

तुलसी वाङ्मय

धर्म की लौ जलाएं हम

आचार्य तुलसी



तुलसी दाङ्मय

प्रवचन पाथेय ग्रंथमालाह् २९

धर्म की लौ जलाएं हम

आचार्य तुलसी

तुलसी वाङ्मय

आचार्य श्री तुलसी बीसवीं सदी के एक विशिष्ट पुरुष थे। उनका कर्तृत्व बहुमुखी था। अणुव्रत-आंदोलन के माध्यम से उन्होंने एक सफल धर्मक्रांति की, नैतिक एवं मानवीय मूल्यों की पुनःप्रतिष्ठा के लिए भगीरथ प्रयत्न किया। पदयात्राओं के द्वारा जन-जागरण का सघन अभियान चलाया। शिक्षा के क्षेत्र में जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) उनका महान अवदान है।

भारतीय वाङ्मय को भी उन्होंने बहुत समृद्ध बनाया। विभिन्न विधाओं में उन्होंने अनेक भाषाओं में साहित्य सरजा। जीवन के दूसरे दशक में प्रारंभ हुई उनकी साहित्य-साधना नवें दशक में प्रवेश कर जीवन के अंतिम समय तक चलती रही। उनका लेखन तो साहित्य बना ही, वाग्धारा भी साहित्य बनी। उनका तथा उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व को उजागर करनेवाला साहित्य तुलसी वाङ्मय के रूप में संपादित हो रहा है। थोड़े विस्तार में तुलसी वाङ्मय का वर्गीकृत रूप इस प्रकार है।

● आत्मकथा साहित्य ● प्रवचन साहित्य ● यात्रा साहित्य ● कथा साहित्य ● जीवनवृत्त साहित्य ● निबंध साहित्य ● संदेश साहित्य ● संस्मरण साहित्य ● संवाद साहित्य ● विचार साहित्य ● संस्कृत साहित्य ● आख्यान साहित्य ● काव्य साहित्य ● पद्य साहित्य ● गीत साहित्य ● आदि-आदि।

उनके साहित्य में कुछ ऐसा वैशिष्ट्य है कि आज भी उसमें वही ताजगी महसूस होती है, जो उसके रचना-क्षणों में थी।

धर्म की लौ जलाएं हम

आचार्य तुलसी



जैन विश्वभारती प्रकाशन, लाडनूं

संपादक :
मुनि धर्मरुचि

प्रकाशक : जैन विश्वभारती
पोस्ट : लाडनू-३४१३०६
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (०१५८१) २२२०८०/२२४६७१
ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

© प्रकाशकाधीन

सौजन्य : 'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति' स्व. फूलदेवी लूनिया (धर्मपत्नी
स्व. नेमीचंदजी लूनिया) की पुण्य स्मृति में
मंगलचंद, मनोज कुमार लूणिया
चाड़वास-शिलांग

संस्करण : २०११

मूल्य : १००/- रुपये मात्र

कंपोज/सेटिंग : नीलम टाईप सेन्टर

मुद्रक : पायोरार्डेट प्रिंट मीडिया प्रा. लि., उदयपुर

ISBN 81

by Acharya Tulsi

Rs.100.00

प्रस्तावना

परम पूज्य गुरुदेव आचार्य तुलसी संतपुरुष थे। वे निजी साधना करते थे और उसके साथ-साथ वे तेरापंथ धर्मसंघ के अनुशास्ता थे, उसके व्यवस्थापक का संचालन करते थे। लोगों से व्यक्तिगत संपर्क भी वे करते थे। साधु-साध्वियों के अध्यापन में भी समय का नियोजन करते थे। इन सबके साथ उनका एक महत्त्वपूर्ण कार्य थाह्प्रायः प्रतिदिन प्रवचन करना। यह उनकी एक तपस्या थी। कई बार तो वे दिन में अनेक बार प्रवचन करते थे। वे वक्तृत्व भी करते और साथ में गायन भी किया करते थे। वे विभिन्न राग-रागिनियों के ज्ञाता थे। उनका प्रवचन प्रायः आम जनता के लिए हुआ करता था। गुरुदेव के काफी प्रवचन संकलित किए गए। अनेक व्यक्तियों ने उन पर काम किया है।

मुनिश्री धर्मरुचिजी स्वामी एक धुनी संत हैं। उन्होंने गुरुदेव तुलसी के प्रवचनों के संपादन का कार्य बखूबी किया है। **तुलसी वाङ्मय** के अंतर्गत प्रकाशित होने वाली प्रवचनों की यह ग्रंथमाला न केवल गृहस्थों के लिए, अपितु प्रवचनकारों के लिए भी उपयोगी सिद्ध हो सकेगी।

५ अप्रैल २०११
देवरिया

आचार्य महाश्रमण

संपादकीय

आचार्य तुलसी बीसवीं शताब्दी के एक महान धर्माचार्य थे। उनकी महानता के अनेक कोण थे। युग को देखने-परखने की उनके पास एक पैनी दृष्टि थी। किंतु वे मात्र युगद्रष्टा नहीं थे, युगस्रष्टा भी थे। उन्होंने अपने ढंग से एक नवयुग के निर्माण का प्रयत्न भी किया।

आचार्य तुलसी का चिंतन जितना उदात्त था, दृष्टिकोण जितना व्यापक था, विचार उतने ही क्रांतिकारी थे। रूढ़ता उन्हें बिलकुल भी इष्ट नहीं थी, भले वह किसी भी क्षेत्र में क्यों न हो। यही कारण है कि जहां-कहीं भी उन्हें रूढ़ता के दर्शन हुए, उन्होंने उस पर प्रहार किया। उसके परिणामस्वरूप सामाजिक क्षेत्र में अनेक उल्लेखनीय परिवर्तन आए। चूंकि धार्मिक जगत उनका प्रमुख कार्य-क्षेत्र था, इसलिए इस क्षेत्र में उन्होंने सघन प्रयत्न किया। उनके इस प्रयत्न को एक सफल धर्मक्रांति की संज्ञा देना अन्यथा नहीं होगा। 'अणुव्रत' उनकी इस धर्मक्रांति का संवाहक बना।

यह एक यथार्थ है कि किसी भी क्रांति के स्वर को परिणति के धरातल पर उतारने के लिए लोक-प्रशिक्षण का कार्य आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। आचार्य तुलसी इस यथार्थ से भलीभांति परिचित थे। अतः लोग-प्रशिक्षण किंवा जन-जागरण का यह कार्य उन्होंने एक सघन अभियान के रूप में किया। इसमें 'प्रवचन' उनका प्रमुख स्तंभ था।

एक कुशल प्रवचनकार थे आचार्य तुलसी। प्रवचन करने की उनकी अपनी एक विशेष शैली थी। उनका प्रवचन इतना सरस होता था कि श्रोता भित्तिचित्रित-से बने उसका पान करते हुए प्रतीत होते थे। 'सोने में सुगंध' की बात यह है कि संगीत की स्वर-लहरियां उसकी सरसता को कई गुना बढ़ा देती थीं। फिर एक बात और है। वे मात्र शब्दों से नहीं, अपितु अपनी भाव-मुद्राओं से भी बोलते थे। प्रवचन में भावों के अनुरूप बननेवाली उनकी विभिन्न मुद्राएं देखते ही बनती थीं। इसीलिए उनका प्रवचन जितना श्रव्य

होता था, उतना ही दृश्य भी होता था। इस संदर्भ में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उनकी अंतर प्रज्ञा जागृत थी। गहराई से देखा जाए तो जिस व्यक्ति की अंतर प्रज्ञा जागृत होती है, वही प्रवचन करने का सच्चा अधिकारी होता है। इस स्तर का प्रवचन ही श्रोताओं के हृदय को छूने की अर्हता रखता है और तभी आंतरिक रूपांतरण घटित हो पाता है।

आचार्य तुलसी ने लगभग छह दसकों तक प्रवचन किया। दिन में प्रायः एक बार तो प्रवचन वे किया ही करते थे, अनेक बार दो या तीन बार भी करते थे और कभी-कभी तो दिन में चार-पांच बार प्रवचन करने का प्रसंग भी बन जाता था। यद्यपि उनके सारे प्रवचन सुरक्षित नहीं रह सके, तथापि उनका जितना अंश सुरक्षित रह सका, वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

तेरापंथ समाज के मूर्धन्य साहित्यमनीषी, समाज-भूषण स्व. श्री श्रीचंद्रजी रामपुरिया ने उनके प्रवचनों का यथार्थपरक मूल्यांकन करते हुए संभवतः सबसे पहले उनके संकलन-संपादन का कार्य शुरू किया। उसके पश्चात गुरुदेव के निर्देशानुसार आदरास्पद साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी ने इस कार्य को आगे बढ़ाया, साध्वी जिनप्रभाजी ने भी यह कार्य किया। मुझे भी इस कार्य के साथ जुड़ने का आशीर्वाद प्राप्त हुआ, इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ। इस क्रम से गुरुदेव के प्रवचनों की कई पुस्तकें संपादित होकर सामने आईं।

गुरुदेव के महाप्रयाण के पश्चात मैंने उनके प्रवचन-साहित्य को एक ग्रंथमाला के रूप में संपादित करने का प्रयत्न शुरू किया। उसके फलस्वरूप गुरुदेव के प्रवचन-साहित्य के इक्कीस ग्रंथ ई. सन २००५ में तुलसी वाङ्मय के अंतर्गत प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला के इक्कीस पुष्पों के रूप में प्रकाशित होकर पाठकों के हाथों में पहुंचे। लंबे अंतराल के पश्चात उसी शृंखला में इस ग्रंथमाला के नौ पुष्प (२२ से ३० तक) भिन्न-भिन्न नामों से अब और प्रकाशित हो रहे हैं।

मेरे लिए यह अत्यंत आह्लाद और आत्म-तोष का प्रसंग तो है ही, अपनी कार्यशैली की तटस्थ समीक्षा करने का क्षण भी है। गुरुदेव श्री की जन्म-शताब्दी का पुण्य अवसर (ई. सन २०१३-१४) दहलीज पर खड़ा है और इधर प्रवचन-साहित्य का एक बड़ा संग्रह संपादित होने की प्रतीक्षा में फाइलों में पड़ा है। यद्यपि उस अवसर तक उनका अवशिष्ट समग्र प्रवचन-साहित्य संपादित करने की कल्पना सुखद तो है, तथापि व्यावहारिक प्रतीत

नहीं होती। व्यावहारिक बात यही है कि यथासंभव उसका अधिक-से-अधिक भाग संपादित हो जाए। किंतु यह भी तब संभव है, जब कार्य करने की मेरी गति-श्लथता मिटे। यह गति-श्लथता क्यों है, इस प्रश्न को अनुत्तरित रखते हुए इस संदर्भ में इतना-सा कहना पर्याप्त होगा कि मैं कार्य करने के अपने संकल्प को और अधिक पुष्ट बनाऊँ, ताकि गति-श्लथता के निमित्त कारणों की विद्यमानता में भी मुझे नई ऊर्जा मिलती रहे और मैं त्वरित गति से शेष कार्य को आगे बढ़ा सकूँ।

ग्रंथमाला के नौ पुष्पों के संपादन की संपन्नता के अवसर पर परमाराध्य गुरुदेवश्री तुलसी को श्रद्धार्घ्य समर्पित करता हूँ। वे मेरे परम उपकारी हैं। कृतज्ञता के दो-चार बोल समर्पित करना तो उनके असीम उपकार को ससीम करना होगा। यह मुझे बिलकुल भी इष्ट नहीं है। उनका तो मंगल आशीर्वाद ही इष्ट है।

प्रज्ञापुरुष आचार्यश्री महाप्रज्ञ के मंगल आशीर्वाद से गुरुदेव श्री तुलसी का प्रवचन-साहित्य इस व्यवस्थित ग्रंथमाला के रूप में प्रकाश में आ सका। उनके चरणों में अपनी श्रद्धासिक्त वंदना समर्पित करता हूँ।

तेरापंथ के वर्तमान अधिशास्ता आचार्यश्री महाश्रमण गुरुदेव श्री तुलसी एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञहइन दो-दो महान गुरुओं की महनीय एवं कमनीय कृति हैं। उनके कुशल नेतृत्व में धर्मसंघ की उल्लेखनीय प्रभावना हो रही है। यह वर्ष उनके अमृत-महोत्सव का वर्ष है। संपूर्ण धर्मसंघ के लिए यह एक हर्षोल्लास का पुण्य प्रसंग है। इस अवसर पर प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला के नौ पुष्प उपहृत कर मैं उनका अभिनंदन करता हूँ।

समादरणीया महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। इस ग्रंथमाला के संपादन के कार्य से वे भावात्मक स्तर पर जुड़ी हुई हैं। उनकी प्रेरणा, मार्ग-दर्शन और सुझाव मेरे लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

शासन-गौरव स्व. मुनिश्री मधुकरजी स्वामी मेरे संरक्षक रहे हैं। उनका मुझ पर बहुत उपकार है। जीवन की सार्थक दिशाओं में आगे बढ़ने के लिए वे मुझे सदा प्रेरित और प्रोत्साहित करते रहे हैं। आज यदि वे विद्यमान होते तो इस कार्य को देख उन्हें संभवतः अत्यंत प्रसन्नता होती। इस अवसर पर मैं उन्हें अपनी विनयांजलि समर्पित करता हूँ।

मुनि जंबूकुमारजी (मिंजूर) ने शासन-गौरव मुनिश्री मधुकरजी स्वामी

की अत्यंत उल्लेखनीय सेवा की है। विगत दो-ढाई वर्षों से उनकी बहुमूल्य सेवा और सहयोग मुझे प्राप्त हो रहा है। यह सेवा-सहयोग मेरी संयम-यात्रा का पौष्टिक संबल है। उनके सहवर्ती मुनि मननकुमारजी का उल्लेख भी अस्थानिक नहीं होगा। कृशकाय होते भी वे मुझे यथाशक्य सहयोग प्रदान कर रहे हैं।

शैक्ष मुनि हेमंतकुमारजी अपने सेवा-सहयोग की तत्परता से मेरी शारीरिक और मानसिक समाधि में योगभूत बन रहे हैं।

संतों के इस योग-सहयोग को मैं पूज्यवरों के अनुग्रह और अपने सौभाग्य के रूप में स्वीकार करता हूं। संतों के सहयोग-सहकार के कारण ही मैं इस ग्रंथमाला के संपादन-कार्य में अपनी शक्ति और समय का समुचित ढंग से नियोजन कर पाता हूं। एतदर्थ तीनों संतों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हुआ यह मंगल भाव करता हूं कि वे अपनी प्रतिभा और क्षमताओं का धर्मसंघ की श्रीवृद्धि में सुंदरतम उपयोग करें।

प्रस्तुत पुस्तक **प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला** का २९वां पुष्प है। **धर्म की लौ जलाएं हम** के नाम से प्रकाशित हो रही इस पुस्तक में मुख्य रूप से गुरुदेव द्वारा प्रदत्त ई. सन १९६९ के प्रवचन संकलित हैं।

गुरुदेव श्री तुलसी के प्रवचन सर्वजनहिताय हैं। औरों की क्या बात, मैं स्वयं इनके संपादन-कार्य से जुड़कर बहुत लाभान्वित हुआ हूं। मुझे विश्वास है कि इस ग्रंथमाला के अन्यान्य पुष्पों की तरह ही यह पुष्प भी एक स्वाध्याय-ग्रंथ के रूप में पाठकों के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा।

केलवा

मुनि धर्मरुचि

१८ अगस्त २०११

प्रकाशकीय

कालजयी व्यक्तित्व आचार्यश्री तुलसी की अमृतवाणी (प्रवचन) के संकलन भिन्न-भिन्न नामों से प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला के पुष्पों के रूप में वर्षों से जैन विश्वभारती द्वारा प्रकाशित होते रहे हैं। विगत कुछ वर्षों से आचार्यश्री तुलसी का साहित्य तुलसी वाङ्मय के रूप में संकलित/संपादित हो रहा है। अतः प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला भी तुलसी वाङ्मय के एक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में प्रकाशित हो रही हैं। पूर्व में तुलसी वाङ्मय के अंतर्गत प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला के २१ ग्रंथों का प्रकाशन जैन विश्वभारती द्वारा किया जा चुका है एवं इसी शृंखला में ९ ग्रंथ प्रकाशनाधीन है।

जैन विश्वभारती का सौभाग्य है कि उसे युगपुरुष आचार्यश्री तुलसी द्वारा रचित इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथमाला को प्रकाशित कर संघ, समाज और प्रबुद्ध पाठक वर्ग तक पहुंचाने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

प्रस्तुत ग्रंथमाला के संयोजन/संपादन में आदरणीय मुनिश्री धर्मरुचिजी ने अपने समय, श्रम एवं शक्ति का जो नियोजन किया है, उसके लिए जैन विश्वभारती श्रद्धेय मुनिश्री के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती है। इस ग्रंथमाला के प्रकाशन में चाड़वास के शासनभक्त एवं समर्पित लूनिया परिवार का आर्थिक सौजन्य प्राप्त हुआ है। श्री मनोज लूनिया उत्साही युवा कार्यकर्ता हैं। संघीय अपेक्षानुसार सदैव सहयोग हेतु तत्पर रहते हैं। इस हेतु भाई श्री मनोज एवं लूनिया परिवार के प्रति आभार, जिन्होंने साहित्य सृजन के क्षेत्र में उदारतापूर्वक सहयोग का हाथ बढ़ाया है। प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग प्रदान करने वाले सभी सहयोगीगण को साधुवाद।

आशा है, इस ग्रंथमाला के माध्यम से आचार्य तुलसी के उदात्त चिंतन एवं उच्च आदर्शों से जन-जन को नई दिशा और दृष्टि प्राप्त हो सकेगी।

१९ अगस्त २०११
कोलकाता

सुरेंद्र चोरडिया
अध्यक्ष, जैन विश्वभारती

अनुक्रम

१. कैसे हो धर्म का अभ्युदय	१
२. धर्म और शिक्षा	६
३. धर्म तेजस्वी कब बनेगा	८
४. जनतंत्र और धर्म	१०
५. राष्ट्रियता और धर्म	१२
६. जन-जन में धार्मिक अभिरुचि कैसे जागे	१६
७. धर्म-क्षेत्र में नई क्रांति	१८
८. असली घर	१९
९. कौन चोर : कौन साहूकार	२७
१०. परविजय : आत्मविजय	३१
११. किसके साथ करें युद्ध	३४
१२. संयम ही श्रेय है	३८
१३. प्रेय और श्रेय	४३
१४. इच्छा का अनंत संसार	५०
१५. भोग-पराङ्मुखता	५४
१६. नमि का गुणोत्कीर्तन	५९
१७. महावीर क्रांत-द्रष्टा थे	६२
१८. अनेकांतवाद समन्वयवाद है	६४
१९. बाहुबली की प्रतिमा से प्रेरणा लें	६६
२०. अनशन : एक विमर्श	६८
२१. साधुत्व की विभिन्न भूमिकाएं	७३
२२. सामायिक	७६
२३. जैन-धर्म पुरुषार्थप्रधान है	७८

२४. आगम-अनुसंधान की आवश्यकता	७९
२५. सम्यक्त्व के पांच लक्षण	८१
२६. सम्यक्त्व के पांच अतिचार	८७
२७. आत्मस्वरूप की पहचान ही सम्यक्त्व है	९१
२८. अणुव्रत मानव-धर्म है	९५
२९. अणुव्रत-आंदोलन समय की मांग है	९७
३०. अणुव्रत राष्ट्रीय आचार-संहिता है	९९
३१. अणुव्रत चरित्र की गंगा है	१०१
३२. अणुव्रत और सर्वोदय एक-दूसरे के पूरक हैं	१०२
३३. नैतिकता और अणुव्रत	१०५
३४. मानवता के उत्थान के लिए अणुव्रत	१११
३५. अणुव्रत में आस्तिक-नास्तिक का भेद नहीं है	११३
३६. साम्यवाद और अणुव्रत	११५
३७. अणुव्रत-भावना की विजय	११७
३८. अणुव्रत की शरण	१२०
३९. विसर्जन करना सीखें	१२१
४०. विसर्जन क्या है	१२३
४१. पूंजीपति-वर्ग स्वयं को बदले	१२५
४२. एक विशिष्ट व्यक्तित्व महात्मा गांधी	१२९
४३. गुणों का स्रोत : मनुष्य	१३२
४४. मनुष्य-जीवन कीमती है	१३४
४५. मनुष्य और पशु का अंतर	१३६
४६. मनुष्य और मनुष्य के बीच की दूरी	१३८
४७. मनुष्य की सत्यविमुखता	१३९
४८. मानवता का विकास हो	१४०
४९. भारतीय संस्कृति की रक्षा	१४१
५०. देश का नैतिक पतन	१४३
५१. क्या भारत धर्मप्रधान देश है	१४५
५२. परिस्थितियों से घबराएं नहीं, उनका मुकाबला करें	१४७

५३. ज्ञान का सार आचार	१४९
५४. अज्ञान की परिकाष्ठा	१५१
५५. विज्ञान का युग	१५२
५६. जनतंत्र का प्राणतत्त्व	१५४
५७. पत्र की सफलता का आधार	१५७
५८. लेखकों और पत्रकारों का दायित्व	१५९
५९. सत्संग का लाभ	१६१
६०. सत्संग की महिमा	१६२
६१. शुद्ध मन से प्रायश्चित्त करें	१६४
६२. अपराध-मुक्ति का मार्ग	१६६
६३. शक्ति, अभिव्यक्ति और विरक्ति	१६८
६४. लज्जा विशुद्धि का हेतु है	१६९
६५. आत्म-निरीक्षण का दिन	१७१
६६. प्रवाह में न बहें	१७३
६७. समाज रूढ़िमुक्त बने	१७५
६८. मन को व्यग्र होने से कैसे बचाएं	१७६
६९. शास्त्रों की बातें प्रयोगसिद्ध बनाएं	१७९
७०. बलिदान-भावना का विकास आवश्यक	१८३
७१. लोकतंत्र की सफलता के मौलिक आधार	१८७
७२. नए मूल्यों की सर्जना का आधार	१९२
७३. मुझसे बुरा न कोय	१९६
७४. जरूरी है आत्म-निरीक्षण	१९७
७५. धन और संयम	१९९
७६. स्वयं ही भगवान बनना होगा	२०१
७७. हम सतत पुरुषार्थ करें	२०२
७८. स्वयं पर अनुशासन	२०४
७९. अशांति क्यों	२०५

१ : कैसे हो धर्म का अभ्युदय

यह मनुष्य-जीवन विविध युगलों का संगम-स्थल है। हम देखते हैं कि एक ही व्यक्ति के जीवन में हिंसा और अहिंसा, संयम और असंयम, ज्ञान और अज्ञान आदि युगलों का अस्तित्व विद्यमान रहता है। और जब तक वह वीतराग नहीं बन जाता, केवलज्ञानी नहीं बन जाता, तब तक ऐसा होना अस्वाभाविक भी नहीं है। ऐसी स्थिति में हमारा लक्ष्य यह रहे कि अहिंसा, संयम आदि तत्त्व वर्धमान होते रहें तथा हिंसा, असंयम आदि विजातीय तत्त्व हीयमान।

कितना उपयोगी है बाह्याचार

पूछा जा सकता है 'अहिंसा, संयम आदि तत्त्वों का पलड़ा भारी करने के लिए क्या किया जाना चाहिए?' एक वाक्य में कहूं तो इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यक्ति को आत्मलीन बनना आवश्यक है। केवल बाह्याचार से इस लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। बाह्याचार तो कवच के समान है, फल के छिलके के समान है। जिस प्रकार छिलके के अभाव में फल का गूदा और रस सुरक्षित नहीं रहता, उसी प्रकार बाह्याचार भीतर को सुरक्षित रखने का साधन है। अतः जिस क्रियाकांड से भीतर के तत्त्व की सुरक्षा न हो, उसे निकम्मा समझना चाहिए। जैन-समाज में अठाई आदि बड़ी-बड़ी तपस्या करने का काफी प्रचलन है। अब इस प्रकार की तपस्या करनेवाला कोई व्यक्ति यदि ऐसा सोचता है कि भले मैं कितना ही पाप करूं, आठ-दस दिन का तप करके साल-भर के सारे पाप धो डालूंगा तो उसका यह चिंतन भयंकर अज्ञान का द्योतक है। आत्मोदय की सही दिशा यह है कि नए पाप-कर्म आने का रास्ता बंद किया जाए और पूर्वसंचित पाप-कर्मों की शुद्धि हो। इस क्रम को बनाए रखनेवाला बाह्याचार कवच के तुल्य है, उपादेय है। उसे अनुपयोगी नहीं माना जा सकता।

धर्म की परिभाषा

धर्म और क्या है? नए पाप-कर्म के बंधन से आत्मा को बचाना और पूर्वार्जित पाप-कर्म से आत्मा को मुक्त करना ही तो बस धर्म है। इससे भिन्न धर्म और कुछ भी नहीं है। धर्म की सारी बातें इस एक बात में समाहित हो जाती हैं। जिसने इस एक बात को समझ लिया, मानना चाहिए कि उसने धर्म के सारे ग्रंथ पढ़ लिए, धर्म के सारे सिद्धांत समझ लिए, उसके मर्म को छू लिया। इसके ठीक विपरीत जिसने यह एक छोटी-सी बात नहीं समझी, कहना चाहिए कि उसने धर्म के मोटे-मोटे हजार पोथे पढ़कर भी उसका क-ख-ग भी नहीं जाना, उसकी आत्मा को नहीं समझा। इसलिए यदि व्यक्ति को सच्ची धार्मिकता का जीवन जीना है, वीतरागता की दिशा में आगे बढ़ना है तो उसे अपनी आत्मा को मलिन होने से सलक्ष्य बचाना होगा। इसके साथ-साथ ही पूर्व में आई मलिनता को हटाने का उपाय भी करना होगा, उसकी साधना करनी होगी। जैन-तत्त्व-दर्शन की शब्दावली में आश्रव का निरोध करना होगाहसंवर करना होगा और निर्जरा की साधना करनी होगी। सीधी भाषा में कहूं तो सभी प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों से बचना होगा, पापकारी प्रवृत्तियां छोड़नी होंगी तथा सत्प्रवृत्त होना होगा, त्याग-तपस्या का जीवन जीना होगा।

धर्म खतरे में है!

कुछ लोग कहते हैं कि धर्म खतरे में है। धर्म खतरे में क्यों हैह इस प्रश्न के उत्तर में वे कहते हैं कि साम्यवाद आ गया है। मैं तो ऐसा नहीं मानता कि धर्म को साम्यवाद या अन्य किसी भी वाद से कभी कोई खतरा हो सकता है। हां, यदि कोई खतरा है तो वह एकमात्र व्यक्ति के अपने गलत आचरणों से है, असद्विचारों से है। अन्य किसी से न तो अतीत में कभी खतरा हुआ, न वर्तमान में है और न भविष्य में किसी से होनेवाला है। मैं समझता हूं कि धर्म को खतरे में होने की बात करना मूलतः धर्म की आत्मा को न समझने का परिणाम है। जो लोग ऐसा कहते हैं या मानते हैं, उन्होंने मात्र बाह्याचार अथवा दूसरे शब्दों में क्रियाकांडों में ही उसे पाला है। यही कारण है कि उन तथाकथित धार्मिकों के जीवन में द्वैध दिखाई देता है। धर्मस्थानों में वे परम धार्मिक बन जाते हैं तथा घर और दुकान पर परम अधार्मिक। इस द्वैध को लक्ष्य कर मैंने कहा हैह

मंदिर में जा भक्त बने प्रह्लाद भक्त से भी बढ़कर।
हिरणांकुश-से क्रूर कर्मकारी बन जाते घर आकर।
तो होगा यह प्रभु से धोखा, केवल मन बहलाते हो।।
सत्य धर्म की सही शान को खोते या रख पाते हो?
अरे धार्मिको! किस प्रवाह में अब भी बहते जाते हो?
सत्य धर्म की सही शान को खोते या रख पाते हो?

पद्य का आशय कोई अस्पष्ट नहीं है, तथापि हमारे मूर्तिपूजक भाइयों को गलफहमी न हो, इस दृष्टि से इतना-सा स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यहां मंदिर एक प्रतीकात्मक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इससे सभी धर्मस्थानों का अर्थ ग्रहण करना चाहिए, मात्र मंदिर का नहीं। मेरी दृष्टि में मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर, गुरुद्वारा, आश्रम तथा अन्य धर्मस्थानों में कोई अंतर नहीं है। मेरा मंदिर से कोई विरोध नहीं है, न अन्य किसी धर्मस्थान से किसी प्रकार का विरोध है। मैं किसी भी धर्मस्थान में प्रभु की स्तुति कर सकता हूँ। कर ही क्यों सकता हूँ, मैंने की भी है। अपने साधु-जीवन में मैंने अनेक बार मंदिर में प्रवास किया है। वहां ध्यान, स्वाध्याय आदि किया है। इसी प्रकार मैं मस्जिद, गुरुद्वारा, चर्च आदि धर्मस्थानों में भी गया हूँ। कहने का तात्पर्य यह कि किसी भी धर्मस्थान से मेरा कोई विरोध नहीं है, मेरा विरोध तो मात्र तथाकथित धार्मिकों की दोहरी जिंदगी से है। एक तरफ वे धर्मस्थान में जाकर परम भक्त और परम धार्मिक बन जाते हैं तथा दूसरी ओर घर, दुकान और ऑफिस में पहुंचकर भ्रष्ट-से-भ्रष्ट आचरण करते हैं, क्रूर-से-क्रूर व्यवहार करते हैं। मेरी दृष्टि में इस प्रकार की दोहरी जिंदगी जीनेवाले एक अपेक्षा से भगवान के साथ धोखा करते हैं। और कहना चाहिए कि इस बहाने वे अपनी आत्मा के साथ धोखा करते हैं। इस कोटि के लोगों को अपने आचरण और व्यवहार पर गंभीरता से चिंतन करना अपेक्षित है।

.....वरना हम आपका विरोध करेंगे

पिछले वर्ष मैं कर्नाटक होते हुए मद्रास (चेन्नई) गया। एक शहर का प्रसंग है। मैंने प्रवचन किया। प्रवचन में व्यापारी लोग अच्छी संख्या में उपस्थित थे। मैंने उन्हें लक्ष्य कर एक बात कहीहूँ 'समाज के दूसरे-दूसरे वर्गों की तरह व्यापारी-वर्ग भी अनेक प्रकार की बुराइयों से ग्रस्त है। आप लोग जानते ही हैं कि यहां गिरवी (बंधक) का धंधा काफी चलता है। मेरे ध्यान में आया है इस धंधे से जुड़े अनेक व्यापारी बहुत अमानवीय और क्रूरतापूर्ण

ढंग से सूद लेते हैं। यद्यपि मुसलमानों की तरह हिंदू-समाज में सूद लेने का निषेध तो नहीं है, तथापि यह प्रवृत्ति अमानवीय ढंग से चले, यह सर्वथा अनुचित है। दया, करुणा और मानवता को छोड़ देना बिलकुल गलत है। यह सुनकर कुछ जैन-व्यापारियों के मन में उफान आ गया। उन्होंने कहाह 'हमारे धंधे के संदर्भ में आप क्यों बोलते हैं? यदि आप इसके बारे में बोलेंगे तो हमारा सारा धंधा चौपट हो जाएगा। अतः भविष्य में इसके बारे में बिलकुल न बोलें।' मैंने कहाह 'मैं न तो किसी का धंधा जमाने के लिए आया हूँ और न किसी का धंधा चौपट करने के लिए। धर्म का काम हैहबुराई का प्रतिकार करना। यह कार्य मैं सदा करता आया हूँ और भविष्य में इसे करते रहने का मेरा संकल्प है। अब अपनी गलत प्रवृत्ति के कारण यदि किसी का धंधा चौपट होता है तो उसके लिए मैं जिम्मेदार नहीं हूँ। मेरी यह बात सुन वे चुनौती के स्वर में बोलेह 'यदि आपने इस संदर्भ में अब कुछ भी कहा तो हम आपका विरोध करेंगे।' मैंने कहाह 'विरोध करने के लिए आप स्वतंत्र हैं। पर इसके भय से मैं अपना कार्य बंद नहीं कर सकता।' इसका परिणाम यह हुआ कि परचेबाजी शुरू हो गई, भयंकर विरोध शुरू हो गया। पर मैंने इसकी कोई परवाह नहीं की और इस बुराई के विरोध में अपनी आवाज उठाता रहा। इस घटना का उल्लेख मैंने प्रासंगिक तौर पर किया है। मूल समझने की बात यह है कि धार्मिक लोगों को अपने आचार और व्यवहार की शुद्धता पर ध्यान देना चाहिए। यदि वे अपने घर, दुकान और ऑफिस में बैठकर क्रूर व्यवहार करते हैं, भ्रष्ट आचरण करते हैं तो मंदिर, मस्जिद आदि धर्मस्थानों पर जाकर की जानेवाली उनकी धार्मिक उपासना प्रश्नचिह्नित होने लगती है। वह एक विडंबना-सी प्रतीत होती है। इसलिए धार्मिक कहलानेवाले लोगों के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि वे अपने आचार और व्यवहार की तटस्थ समीक्षा करें। यदि आचार और व्यवहार की शुद्धि बनी हुई है, तब तो बहुत शुभ है, पर यदि ऐसा नहीं है तो उन्हें उनकी शुद्धि की दृष्टि से गहराई से ध्यान देना चाहिए। तभी उनका धार्मिक कहलाना सार्थक हो सकेगा।

अहिंसा में प्रतिरोधात्मक शक्ति आए

दूसरी बातहधर्म में अथवा दूसरे शब्दों में अहिंसा में प्रतिरोधात्मक शक्ति पैदा होना नितांत अपेक्षित है। तभी धर्म तेजस्वी बन सकेगा, अहिंसक शक्तियां प्रभावी बन सकेंगी। यदि धर्म भी बुराइयों का प्रतिरोध नहीं करेगा, उनके विरोध में स्वर बुलंद नहीं करेगा तो और फिर कौन करेगा? ऐसी

स्थिति में बुराइयों का पलड़ा दिन-प्रतिदिन और अधिक भारी होता चला जाएगा। अहिंसा यदि हिंसा की ओर मूकभाव से देखती रहेगी, उसमें उसके प्रतिकार करने का साहस और शक्ति पैदा नहीं होगी, वह उसके प्रतिरोध में खड़ी नहीं होगी तो आप निश्चित मानें कि हिंसा द्रौपदी के चीर की भांति बढ़ती ही जाएगी। उसके कम होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। इसी दृष्टि से मैंने कहा है

आज अहिंसा शौर्य वीर्य संयुत जीवन-दर्शन हो।

संयममय जीवन हो ॥

धर्म और धार्मिक को केंद्र में रखकर मैंने कुछ बातें कहीं। मैं आशा और अपेक्षा करता हूँ कि धार्मिक जगत इन बातों पर गंभीरतापूर्वक चिंतन करेगा।

बेंगलुरु

११ सितम्बर १९६६

२ : धर्म और शिक्षा

धर्म और शिक्षा या ज्ञान हमारे जीवन की दो अनिवार्य आवश्यकताएं हैं। इनके अभाव में हमारे जीवन का सर्वांगीण विकास कदापि संभव नहीं है। जिस प्रकार धर्मशून्य जीवन वास्तविक जीवन नहीं होता, ठीक उसी प्रकार शिक्षाशून्य या ज्ञानशून्य जीवन भी वास्तविक जीवन नहीं कहला सकता। जिस प्रकार धर्म के ऊंचे-ऊंचे सिद्धांत जीवन में उतारे बिना उनका कोई विशेष मूल्य नहीं, उसी प्रकार पढ़ी हुई बातें जीवन में उतारे बिना उनका भी कोई विशेष महत्त्व नहीं।

एक-दूसरे के पूरक

मुझे लगता है कि इन दोनों की अंध और पंगु की-सी स्थिति है। अंधे के पास आंखें नहीं होतीं और पंगु के पास पैर। इस स्थिति में दोनों ही चलने में अक्षम होते हैं। किंतु यदि वे दोनों मिल जाते हैं तो दोनों की ही समस्या का हल हो जाता है और वे चलकर अपने गंतव्य तक पहुंचने में सक्षम बन जाते हैं। मैं देखता हूँ कि आज के धार्मिक और शिक्षित दोनों ही अधूरे हैं। धार्मिकों में शिक्षा का प्रसार नहीं। इस कारण वे रूढ़िवादी बन रहे हैं। दूसरी तरफ शिक्षित लोग धर्म को भूल रहे हैं। जीवन-विकास की दृष्टि से वे इसका कोई मूल्य नहीं आंकते। यह दोनों तरफ का अधूरापन अच्छा नहीं है। यदि धार्मिक लोगों में शिक्षा का प्रचार-प्रसार हो और शिक्षित लोग धर्म की आवश्यकता समझने लगे तो हमारी बहुत-सी समस्याओं का सहज समाधान हो जाए। गहराई से देखा जाए तो धर्म और शिक्षा दोनों एक-दूसरे के प्रतिपक्षी नहीं, अपितु पूरक हैं।

शिक्षा का उद्देश्य

आज देश में शिक्षा की प्रवृत्ति बढ़ी है। आए दिन नए-नए विद्या-संस्थान खुल रहे हैं। बावजूद इसके, देश में अच्छे व्यक्तियों का निर्माण नहीं हो रहा है। इसका क्या कारण है? मेरी दृष्टि में इसका सबसे प्रमुख कारण

यह है कि शिक्षा के मूलभूत उद्देश्य पर सही ढंग से विचार नहीं किया गया। वर्तमान में लोग इस भाषा में सोचते हैं कि शिक्षा के द्वारा हमारे जीने का स्तर ऊंचा उठे। किंतु मैं ऐसा सोचता हूँ कि यह चिंतन सही नहीं है। मेरे विचार में शिक्षा का उद्देश्य जीने का स्तर ऊंचा उठने की अपेक्षा जीवन का स्तर ऊंचा उठना होना चाहिए। अणुव्रत व्यक्ति के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने का प्रयोग है। मैं आशा करता हूँ कि वह दिन जल्दी ही आएगा, जब अणुव्रत के आधार पर देश की जनता का जीवन-स्तर ऊंचा उठेगा और वह सुख व शांति की सांस लेगी।

बेंगलुरु

२६ अगस्त १९६९

३ : धर्म तेजस्वी कब बनेगा

वासनाओं से अलिप्त व्यक्ति जब नाना प्रकार के आंतकों से घिर जाता है, तब उसका मन उसी प्रकार पश्चात्ताप से ग्लान हो जाता है, जिस प्रकार उत्पथगामी शाकटिक का मन शकट का अक्ष टूट जाने से।

भय किसे

जो मनुष्य जितना धार्मिक होता है, वह उतना ही निडर और साहसिक भी होता है। इसके ठीक विपरीत जो जितना अधार्मिक और कामुक होता है, वह उतना ही डरपोक तथा दुर्बल। वह मृत्यु से ठीक उसी प्रकार कांपता है, जिस प्रकार वायु के वेग से तृण। वास्तव में मृत्यु से कोई नहीं घबराता, घबराता है अपने दुष्कृत्यों के परिणाम से। व्यक्ति दुष्कृत्य भी करता रहे और उनका परिणाम भी उसे न भोगना पड़े, यह नहीं हो सकता। एक उक्ति है *हैहजो करेगा, वही भरेगा।* करनेवाले को तो भोगना ही पड़ेगा। यह तो सब जानते ही हैं कि जो जनमता है, वह मरता है। यह परंपरा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। उसका भय उसे ही होता है, जिसने अपने जीवन में कभी हित नहीं साधा।

कुछ लोग मृत्यु से इसलिए घबराते हैं कि हमने कार्य प्रारंभ तो किया, पर मृत्यु के आ जाने से वह बीच में लटकता ही रह जाएगा। मैं सोचता हूं, इस प्रकार का चिंतन करना व्यर्थ है, क्योंकि मनःकल्पित कार्य किसके पूरे हो पाए हैं! गांधीजी ने कब सोचा था कि आजादी मिलते ही मैं इतना शीघ्र चला जाऊंगा? उनके मन में भारत के निर्माण की न जाने कितना कल्पनाएं थीं। पर वे सब मात्र कल्पना ही रह गईं।

क्या किसी के चले जाने से यह दुनिया खाली हुई है? राम चले गए, भगवान महावीर और बुद्ध चले गए, महात्मा गांधी भी चले गए। इसके बावजूद यह दुनिया ज्यों-की-त्यों चल रही है। यह दुनिया अतीत में थी, वर्तमान में है और भविष्य में भी रहेगी। यानी यह शाश्वत है।

मरने-जीने की चिंता किसलिए? चिंता तो इस बात की होनी चाहिए कि मेरा जीवन धर्मविहीन न हो। धार्मिक व्यक्ति कभी मौत से नहीं घबराता। उसकी दृष्टि में जीवन और मृत्यु में कोई भेद नहीं है। जीता है तो वह धार्मिक जीवन जीता है और मरता है तो समाधिपूर्वक मरता है।

बिलकुल सीधा है धर्म का पथ

धर्म ही मनुष्य को अभय देता है। पर आज मनुष्य की इस पर से आस्था कुछ हिल गई है। उसे धर्म जटिल-सा लगता है, क्योंकि जीवन लगभग क्रिया-कांडों में उलझ गया है तथा धर्म का मौलिक स्वरूप भुलाया जा रहा है। वस्तुतः धर्म में कोई जटिलता है ही नहीं। वह तो बिलकुल सीधा और सरल है। इसलिए मैंने एक गीत में कहा है

**अथ से इति तक जिसका अवितथ, पथ है सीधा-सादा।
कथनी करनी की समानता, बस जिसकी मर्यादा।
जाने क्यों भय खाते मानव, समझ इसे असि-धारा॥
जाग्रत धर्म हमारा॥
जीवित धर्म हमारा॥**

जिसकी पाचन-शक्ति कमजोर होती है, उसे दूध भी भारी लगता है। वैसे ही जिसकी आत्म-शक्ति दुर्बल होती है, उसे धर्म-जैसा पवित्र और सरल तत्त्व भी जटिल लगता है।

धर्म अच्छा हैहयह तो कोई भी व्यक्ति कह सकता है। किंतु केवल दुहाई देने मात्र से काम नहीं चलता। धर्म तेजस्वी तभी बनेगा, जब उसको जीवन-व्यवहार से उतारा जाएगा।

४ : जनतंत्र और धर्म

जनतंत्र और धर्म यद्यपि दो अलग-अलग तत्त्व हैं, तथापि इनकी पृष्ठभूमि एक ही है। स्वतंत्रता दोनों ही तत्त्वों का आधार है। भगवान महावीर ने धर्मरूपी महल के चार दरवाजे बताए हैं— १. क्षांतिहसहिष्णुता २. मुक्तिह्वअनासक्ति ३. आर्जवहसरलता ४. मार्दवह्वकोमलता। धार्मिक बनने के लिए उपर्युक्त चारों तत्त्व अपनाना अनिवार्य है। स्वस्थ जनतंत्र के लिए भी ये चारों तत्त्व परम उपयोगी हैं। मैं समझता हूँ कि इनके अभाव में कोई भी जनतंत्र सफल नहीं हो सकता।

यह तो आप जानते ही हैं कि भारतवर्ष संसार का सबसे बड़ा जनतांत्रिक देश है। किंतु यहां शुद्ध जनतंत्र है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। विभिन्न राजनीतिक दलों के नेता जनतंत्र के नाम पर अपना-अपना स्वार्थ-पोषण कर रहे हैं। राजनीतिक दलों में एक-दूसरे को नीचा दिखाने की होड़-सी लग रही है। वर्तमान की अनेकानेक घटनाएं और स्थितियां देखकर ऐसा लगता है कि जनतंत्र के साथ खिलवाड़ हो रहा है। दुर्भाग्य से देश में ऐसी शक्तियां बहुत कम रह गई हैं, जो निष्पक्षभाव से कोई बात कह सकें। जो कांग्रेस विगत चौरासी वर्षों से देश में कार्य करती आ रही है और जिसे निष्प्रभावी बनाने में राष्ट्र का कोई भी अन्य राजनीतिक दल कामयाब नहीं हुआ, वह भी अपने घर की फूट के कारण दो भागों में विभक्त होती नजर आ रही है। दोनों ही धड़ों या दलों को यह चिंता नहीं है कि हमारी आपसी लड़ाई के चलते देश की पचास करोड़ जनता का कितना अहित हो रहा है तथा शत्रु-राष्ट्रों को इस स्थिति का अनपेक्षित लाभ उठाने का कितना सुंदर अवसर मिल रहा है। इस स्थिति में मैं उनसे दो बातें कहना चाहता हूँ, क्योंकि राष्ट्र में एक नैतिक आंदोलन के संचालक एवं एक धर्मगुरु होने के नाते राष्ट्र में स्वस्थ वातावरण बनाने के लिए प्रयास करना मेरा कर्तव्य है। दोनों ही दलों को इस समय गंभीरतापूर्वक आत्मालोचन करना चाहिए और

अपनी-अपनी भूलें देखनी चाहिए। मुझे इस बात का बहुत आश्चर्य है कि मंत्रियों, सांसदों, विधायकों आदि को इस बात का कोई प्रशिक्षण नहीं मिलता कि जनतंत्र में किस प्रकार की कार्यशैली से कार्य करना चाहिए। जब वकालत शुरू करने से पूर्व एक वकील को किसी वरिष्ठ वकील के पास रहकर प्रशिक्षण प्राप्त करना आवश्यक है, तब इन मंत्रियों, सांसदों आदि के लिए कोई प्रशिक्षण की व्यवस्था क्यों नहीं? इसलिए मेरा सुझाव है कि किसी भी व्यक्ति के मंत्री, सांसद या विधायक बनने से पूर्व उसके लिए दो वर्ष तक व्यवस्थित प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए और इसके लिए एक प्रशिक्षण-केन्द्र बनना चाहिए। जब तक कोई व्यक्ति इस प्रशिक्षण-केंद्र में प्रशिक्षण लेकर विधायक, सांसद, मंत्री आदि बनने की योग्यता के लिए निर्धारित परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो जाता, तब तक उसे विधानसभा और लोकसभा के चुनाव में उम्मीदवार के रूप खड़े होने की अनुमति नहीं मिलनी चाहिए। 'अणुव्रत' यह प्रशिक्षण देने में समर्थ है।

आप लोग वकील हैं। मैसूर उच्च न्यायालय में वकालत करते हैं। आप बुद्धिजीवी हैं। आपका काम मामलों के निपटाने में जजों का मार्ग सुगम करना है, आपसी विवाद मिटाना है। पर आप बुरा नहीं मानेंगे, आज तो वकालत का पेशा लड़ाई का पेशा बन रहा है। यदि आपसी झगड़े बिना कोई कोर्ट-कचहरी के निपट जाएं तो आप वकीलों को क्या मिले! आपस में लड़ाना तथा सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा साबित करने का प्रयास करना आपका काम नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार अन्याय को न्याय और न्याय को अन्याय सिद्ध करने का प्रयत्न करना भी आपके लिए कदापि उचित नहीं है।

बेंगलुरु

७ नवंबर १९६६

५ : राष्ट्रीयता और धर्म

राष्ट्रीयता किसी भी राष्ट्र में भिन्नता में एकता लानेवाला तत्त्व है। एक ही राष्ट्र में विभिन्न जातियों, विभिन्न धर्मों, विभिन्न संप्रदायों और विभिन्न विचारों के लोग मिल सकते हैं, किंतु जहां राष्ट्र का प्रश्न है, वे सब एक हैं। सबकी एक राष्ट्रीयता है। हालांकि किसी अपेक्षा से यह अनेकता या भिन्नता भी अपने-आपमें बहुत काम का तत्त्व है, तथापि इस अनेकता के पीछे एकता की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। हाथ की पांचों अंगुलियों का अपना-अपना महत्त्व है, पर हाथ से सर्वथा कटकर उनमें से कोई भी अंगुली कार्य नहीं कर सकती।

बहुत-से लोग पूछते हैं 'राष्ट्रीयता क्या है?' अपने राष्ट्र के प्रति वफादार रहना, राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व एवं कर्तव्य की दृष्टि से सजग रहना राष्ट्रीयता है। प्रत्येक राष्ट्र की अपनी स्वतंत्र राष्ट्रीयता होती है। आप अपने राष्ट्र की उन्नति की दृष्टि से विभिन्न प्रवृत्तियां कर सकते हैं, किंतु आप यह न भूलें कि जिस प्रकार आपको अपना राष्ट्र प्रिय है, उसी प्रकार संसार के अन्यान्य राष्ट्रों के नागरिकों को भी अपना-अपना राष्ट्र प्रिय हो सकता है।

अच्छी नहीं है अतिराष्ट्रीयता

इस परिप्रेक्ष्य में आपको इस बात का ध्यान रखना अपेक्षित है कि कोई भी ऐसी प्रवृत्ति आप द्वारा नहीं होनी चाहिए, जिससे अन्य-अन्य राष्ट्रों की राष्ट्रीयता को आंच आए, अन्यथा आपकी राष्ट्रीयता अतिराष्ट्रीयता में बदल जाती है। इस अतिराष्ट्रीयता को मैं अच्छी नहीं मानता। इस संदर्भ में हम राष्ट्रीयता की सीमा समझें। वह सीमा यह है कि अपना हित सुरक्षित रखते हुए दूसरों को अहित न पहुंचाया जाए।

क्या है राष्ट्रधर्म

हमारे शास्त्रों में ग्रामधर्म, नगरधर्म, कुलधर्म आदि दस प्रकार के धर्मों

का उल्लेख प्राप्त होता है। उनमें से एक राष्ट्रधर्म भी है। इस दृष्टि से राष्ट्रीयता किसी भी राष्ट्र के नागरिक का धर्म है। पर हम धर्म शब्द की व्याख्या समझ लें। धर्म एक व्यापक शब्द है। यह अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

- ग्रामादिनामाचारो व्यवस्था वा धर्मः।
- वस्तुस्वभावो धर्मः।
- स्वकर्तव्यपालनं धर्मः।
- आत्मशुद्धिसाधनं धर्मः।
- गतिसहायो धर्मः।
-
-

इस प्रकार धर्म शब्द इतना उलझनभरा है कि बहुत-से धर्माचार्य भी इसके अर्थ का अनर्थ कर बैठते हैं। इसलिए बहुत बार कठिनाई सामने आ जाती है। गांव में रहनेवाले के लिए गांव की व्यवस्था का पालन करना उसका ग्रामधर्म है। यदि ग्रामवासी गांव की व्यवस्था का पालन नहीं करते हैं तो गांव में अव्यवस्था हो जाती है और बहुत बड़ा नुकसान भी हो सकता है। इसी प्रकार राष्ट्र की सुरक्षा करना, उसकी विभिन्न व्यवस्थाओं का पालन करना राष्ट्र के नागरिक का राष्ट्रधर्म है। जिस समय राष्ट्र पर कोई संकट आता है, दुश्मन की सेना राष्ट्र पर आक्रमण करती है, उस समय क्या कोई राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत नागरिक राष्ट्र के प्रति अपना कर्तव्य नहीं पहचानेगा? मैं तो समझता हूँ कि जो व्यक्ति जिस राष्ट्र का नागरिक है, वह यदि उसके प्रति अपनी वफादारी नहीं निभाता है तो अपने कर्तव्य से च्युत होता है।

अध्यात्म-धर्म और राष्ट्र-धर्म को मिलाएं नहीं

यहां समझने की बात यह भी है कि राष्ट्र-धर्म लोकोत्तर-धर्म अथवा अध्यात्म-धर्म नहीं है। हम राष्ट्र-धर्म और अध्यात्म-धर्म की अलग-अलग पहचान करें। कुछ लोग कहते हैं कि आचार्यजी राष्ट्र की सुरक्षा की दृष्टि से अपना आवश्यक कर्तव्य निभाने का निषेध करते हैं। किंतु मैं नहीं समझता कि मैं ऐसा क्यों कहूंगा। राष्ट्र में रहनेवाला व्यक्ति जब राष्ट्र की सेवा लेता है, तब क्या उसका राष्ट्र के प्रति कोई कर्तव्य नहीं होता? राष्ट्र पर संकट के

समय वह निष्क्रिय कैसे रहेगा? मैं इसके लिए किसी को निषेध करूंगा तो क्या मैं स्वयं दोषी नहीं हो जाऊंगा? अलबत्ता मैं इतना अवश्य कहता हूँ कि व्यक्ति अपना दृष्टिकोण सम्यक और स्पष्ट रखे। वह राष्ट्र-हित की दृष्टि से किए गए सभी कार्यों को अध्यात्म-धर्म न समझे। वैसे राष्ट्र-धर्म और अध्यात्म-धर्म दोनों ही तत्त्व समाज में रहनेवाले व्यक्ति के लिए उपयोगी और आवश्यक हैं, किंतु दोनों को मिलाकर यदि एक कर दिया जाएगा तो लाभ के स्थान पर नुकसान हो जाएगा।

राष्ट्रीय भावना का अभाव

आज भारतवर्ष की जनता में राष्ट्रीयता की भावना कितनी है, यह आप सबसे छुपा नहीं है। क्या आपको मालूम नहीं है कि विदेशों में भारतीय व्यापारियों की छवि बहुत खराब है? पर चिंता किसे है! राष्ट्र के नेताओं को अपनी-अपनी कुर्सी की चिंता सता रही है और जनता अपना स्वार्थ देख रही है। यदि वास्तव में ही आप लोगों को राष्ट्र की चिंता है तो कभी कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकते, जिससे आपके राष्ट्र की किंचित भी बदनामी होती हो।

प्रसंग सेठानी भद्रा का

प्राचीन काल में मगध अपनी ऋद्धि और वैभव-संपन्नता के लिए प्रसिद्ध था। कुछ विदेशी व्यापारी वहां की ऋद्धि और वैभव-संपन्नता की बात सुनकर रत्नकंबल बेचने के लिए उसकी राजधानी राजगृह पहुंचे। पर कैसी बात कि पूरे शहर में घूमने के बावजूद उन्हें कंबल खरीदनेवाला कोई भी ग्राहक नहीं मिला। तब वे राज-सभा में पहुंचे। मगध-सम्राट श्रेणिक ने उनके आने का प्रयोजन जानकर कंबल की कीमत पूछी। उत्तर मिलाह 'एक कंबल की कीमत सवा लाख सोनैए (सोने के सिक्के)।' सुनकर सम्राट के कान भी खड़े हो गए। इतने मूल्यवान कंबल खरीदने की हिम्मत उसकी भी नहीं हुई। व्यापारियों को बहुत निराशा हुई। वे वापस अपने देश को प्रस्थित हुए। मार्ग में वे आपस में यह बात करते हुए जा रहे थे कि हमने मगध और उसकी राजधानी का इतना नाम सुना था, पर लगता है कि यहां कोई भी अच्छा व्यापारी और सेठ-साहूकार नहीं है।.....अपने भवन के झरोखे में बैठी सेठानी भद्रा (श्रेष्ठी शालिभद्र की माता) के कानों में उनकी बातचीत के शब्द पड़े। उसे अच्छा नहीं लगा। उसने तत्काल उन व्यापारियों को बुलाया और पूछाह 'आप लोग क्या बात कर रहे हैं?' व्यापारी बोलेह 'हमने मगध और उसकी इस राजधानी राजगृह का बहुत नाम सुना था और बहुत बड़ी

आशा लेकर रत्नकंबल बेचने आए थे, किंतु यहां तो हमारा एक भी कंबल नहीं बिका।' भद्रा ने कहाह 'इतनी-सी ही तो बात है। अच्छा, तुम लोगों के पास कितने कंबल हैं?' व्यापारी बोलेह 'सोलह।' भद्रा ने कहाह 'मात्र सोलह ही? मुझे तो बत्तीस चाहिए। मेरे बत्तीस पुत्र-वधुएं हैं। ऐसी स्थिति में मैं किसको दूं और किसको न दूं? खैर, प्रत्येक कंबल के दो-दो टुकड़े कर इन सबको मेरे पास रख दो और इनका मूल्य ले लो।' व्यापारी लोगों को सहसा सेठानी भद्रा की बात पर विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने कहाह 'पहले आप इनका मूल्य चुका दें, फिर आप कहें तो एक-एक कंबल के दो-दो क्यो, हम चार-चार टुकड़े भी कर देंगे।' भद्रा सेठानी ने पूछाह 'कितनी किम्मत है इनकी?' व्यापारी बोलेह 'सवा लाख सोनेयों का एक कंबल। इस हिसाब से सोलह कंबलों का कुल मूल्य हुआ बीस लाख सोने।' भद्रा ने बिना कोई मोल-तोल किए बीस लाख सोने भंडारी से कहकर उन्हें दिला दिए। जब व्यापारी रवाना होने लगे, तब उनसे कहाह 'खबरदार! यदि अब मगध और राजगृह का नाम बदनाम किया तो। मैं इसे कभी सहन नहीं कर सकती।' यह थी राष्ट्रीयता। भद्रा सेठानी के मन में राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूटकर भरी हुई थी। वह अपने नगर और देश की कोई उतरती बात नहीं सुन सकती थी। किंतु आज भारत में ऐसी राष्ट्रीयता कितने लोगों में है? समाज में कुछ-एक व्यक्ति तो बेशुमार सुख-सुविधाएं भोगते हैं, ऐश-आराम करते हैं, मौज उड़ाते हैं और उनके ही बहुत-से भाई दर-दर भीख मांगते हैं। ऐसा स्थिति देखकर मन में आता है कि भारतीय समाज में राष्ट्रीयता लुप्तप्रायः हो गई है। आज कहां कोई भद्रा सेठानी है, जो अपने देश की बदनामी सुनना नहीं चाहती।

राष्ट्रीय चरित्र का विकास हो

मेरी दृष्टि में आज राष्ट्र के समक्ष सबसे बड़ी समस्या हैह्वराष्ट्रीय चरित्र की। जिस राष्ट्र की जनता का नैतिक पतन हो जाता है, वह राष्ट्र मुर्दा राष्ट्र कहलाता है। राष्ट्र में किसी भी तरह का विकास नैतिक और चारित्रिक विकास पर ही अवलंबित है। अतः आप सबका कर्तव्य है कि आप अपने-आपको नैतिक और चरित्रसंपन्न बनाएं। अणुव्रत-आंदोलन व्यक्ति-व्यक्ति को नैतिक, प्रामाणिक व चरित्रनिष्ठ बनाना चाहता है। संकल्प के स्तर पर अणुव्रत की आचार-संहिता स्वीकार कर आप राष्ट्र के सच्चे नागरिक और सच्चे धार्मिक बन सकते हैं।

बेंगलुरु, १० अगस्त १९६६

६ : जन-जन में धार्मिक अभिरुचि कैसे जागे

मैं जब आज के जन-जीवन पर दृष्टिपात करता हूं, तब एक बात मुझे बहुत साफ-साफ दिखाई देती है कि अध्यात्म और धर्म के प्रति अभिरुचि कम हो रही है। यों तो इसके अनेक कारण हो सकते हैं, किंतु इसका जो बड़ा कारण है, वह यह कि जनता के पथ-दर्शकों ने धर्म और अध्यात्म को गौण कर दिया है। भारत की जनता अनुकरणप्रधान रही है। वह पथ-दर्शकों के पीछे-पीछे चलती है। इस परिप्रेक्ष्य में जब हम धर्म और अध्यात्म के प्रति जन-अभिरुचि जागृत करने की बात पर विचार करते हैं, तब हमें यह स्वीकार करना होगा कि इस लक्ष्य की प्राप्ति तभी संभव है, जब जनता के पथ-दर्शक सही अर्थ में धार्मिक और आध्यात्मिक बनेंगे, अन्यथा ऐसा कभी संभव नहीं है। मेरे अंतर का विश्वास बोलता है कि यदि विभिन्न क्षेत्रों के उच्चस्तरीय व्यक्ति अध्यात्मनिष्ठ, धार्मिक और नैतिक बन जाएं तो जनता में इस क्षेत्र में एक गुणात्मक बदलाव हमें स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगेगा। वैसे मैं धर्म का रूढ़ उपासक नहीं हूं। जो धर्म केवल क्रियाकांडों और अवैज्ञानिक उपासना में उलझ कर रह जाता है, जन-जीवन के आचार और व्यवहार में नहीं उतरता, उसकी मैं कोई विशेष उपयोगिता नहीं समझता। मेरी अंतरात्मा उसी धर्म को मान्यता देती है, जो जन-जन के जीवन को पवित्र बनाए, उसे आनंद और शांति की अनुभूति कराए।

विद्यार्थियों के लिए त्रिकोणात्मक अभियान

मेरे समक्ष राज्य के शिक्षामंत्री श्री शंकर गौड़ाजी बैठे हैं। वे जानते हैं कि आज शिक्षा-जगत की क्या स्थिति है। विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता और उच्छृंखलता बहुत बढ़ रही है। उनका नैतिक एवं चारित्रिक स्तर दिनोंदिन नीचे गिर रहा है। निःसंदेह यह स्थिति राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य की दृष्टि से अच्छी नहीं है। मेरा चिंतन है कि यदि हमें इस समस्या का समाधान करना है तो विद्यार्थियों में नीति, धर्म और अध्यात्म के प्रति निष्ठा जागृत

करनी होगी। इसके लिए तीन बातें अपेक्षित हैं

१. अध्यापकों में नीतिनिष्ठा, धार्मिकता और आध्यात्मिकता होनी चाहिए।
२. अभिभावकों का जीवन नैतिकता, धार्मिकता और आध्यात्मिकता की भावनाओं से भावित होना चाहिए।
३. पाठ्यक्रम की पुस्तकों में नीति, धर्म और अध्यात्म की बातें अनिवार्य रूप में रहनी चाहिए।

अणुव्रत इस दिशा में सक्रिय है और अपनी शक्ति के अनुसार कार्य कर रहा है। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि इस कार्य में हमें अनेक नीति-निष्ठ लोगों का सहयोग प्राप्त हो रहा है। इसके बावजूद मैं ऐसा महसूस करता हूँ कि वर्तमान के युग में अनैतिकता का जैसा गहरा वातावरण है, उसके समक्ष नैतिकता का स्वर मंद है। उसे और बुलंद करने के लिए आप सबके सहयोग की अपेक्षा है।

बेंगलुरु

२८ अगस्त १९६६

७ : धर्म-क्षेत्र में नई क्रांति

आज भारत में अधिकार मांगने की बात पर विशेष बल दिया जा रहा है, जबकि प्रामाणिकता को लोगों ने अपने जीवन से निकाल दिया है। मेरा मानना है कि प्रामाणिकता के अभाव में अधिकारों का कोई मूल्य नहीं रह जाता। जातिवाद का नारा पुनः बुलंद किया जा रहा है। तेलंगाना का आंदोलन आज आंध्र को विनाश की ओर लिए जा रहा है। मुझे यह सुनकर आश्चर्य होता है कि देश के नागरिकों द्वारा ही देश में करोड़ों रुपए की संपत्ति नष्ट कर दी गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि देश की जनता तथा सरकार दोनों आंदोलन की अभ्यासी हो गई हैं। जनता सोचती है कि जब तक हिंसा और तोड़-फोड़ नहीं होगी, तब तक मांग पूरी नहीं होगी और सरकार तब तक किसी समस्या की ओर ध्यान नहीं देती, जब तक गोलियां नहीं चलतीं और करोड़ों रुपयों की संपत्ति नष्ट नहीं हो जाती। इधर के पत्रों में मैंने देखा है कि मैसूर के विभाजन की मांग भी खड़ी हो गई है। संपूर्ण देश में नए-नए विवाद उठ खड़े हुए हैं।

मेरा सत्य और अहिंसा में विश्वास है। मैं वही कार्य कर रहा हूँ, जिसे शताब्दियों पूर्व मैसूर राज्य में वसेश्वर ने किया था। उन्होंने जातिवाद तथा अस्पृश्यता के खिलाफ आवाज उठाई थी। मेरा भी जातिवाद तथा अस्पृश्यता में विश्वास नहीं है। मैं अहिंसा के द्वारा धर्म-क्षेत्र में एक नई क्रांति लाना चाहता हूँ। व्यक्ति आज चंद्रलोक तक पहुंच गया है, परंतु उसे शांति नहीं मिल रही है। शांति मिले भी तो कैसे! वह दूसरी जगह से खरीदकर तो लाई नहीं जा सकती। वह तो प्रत्येक मनुष्य के हृदय में है। आज का मनुष्य स्वयं को नहीं देख रहा है। मैं अणुव्रत के माध्यम के उसे स्वयं को देखने के लिए प्रेरित कर रहा हूँ। जिस दिन मनुष्य स्वयं को देखने लग जाएगा, उस दिन वह समस्त बुराइयों से मुक्त हो जाएगा।

द : असली घर

संघर्ष दो का है

नमि मिथिला के राजा थे। एक बार वे दाह-ज्वर से पीड़ित हुए। वैद्यों ने शरीर पर चंदन का लेप करने के लिए कहा। रानियों ने चंदन घिसना प्रारंभ किया। इसमें उनके हाथों में पहने हुए कंगनों का परस्पर टकराना और उससे आवाज होना स्वाभाविक था। राजा नमि के लिए यह आवाज असह्य हो गई। रानियों तक सूचना पहुंची। पर चंदन घिसना तो जरूरी था। उसे बंद कैसे किया जा सकता था। उन्होंने चिंतन किया और आवाज न होने का उपाय कर लिया। जब आवाज बंद हो गई, तब राजा ने पूछाह 'क्या चंदन घिसना बंद कर दिया गया है?' उन्हें बताया गयाह 'नहीं, वह घिसा जा रहा है।' तब राजा ने साश्चर्य पूछाह 'फिर आवाज कैसे नहीं हो रही है?' उनको बताया गयाह 'पहले रानियों ने अनेक कंगन पहन रखे थे। चंदन घिसते समय वे परस्पर टकराकर आवाज कर रहे थे। अब रानियों ने सुहाग-चिह्न के रूप में मात्र एक-एक कंगन रखा है, शेष सारे कंगन उतार दिए हैं। अतः उनकी टकराहट बंद हो गई है और इसके साथ ही उससे होनेवाली आवाज भी बंद हो गई है।' यह सुनते ही राजा नमि के अंतर में विस्फोट-सा हुआ और वे सहसा प्रतिबुद्ध हो गए। ओह! यह सारी टकराहट दो (अनेक) की है, सारा संघर्ष दो का है, सारा दुःख दो का है। आत्मा और शरीर दो हैं, इसीलिए यह सारा दुःख है। अकेली आत्मा को कोई दुःख नहीं होता। आश्चर्य, इतनी छोटी-सी बात भी मैं अब तक नहीं समझ पाया! इसी कारण अनंत काल से इस संसार में परिभ्रमण करते हुए दुःख का वेदन कर रहा हूं। किंतु अब मैं दुःख का वेदन बिलकुल नहीं करना चाहता। इसलिए मुझे एकाकी बनना है, आत्मस्थ बनना है। एकाकी और आत्मस्थ बनने का एकमात्र मार्ग हैहसंयम की साधना। मुझे अब अविलंब संयम स्वीकार करना है।

नमि का अभिनिष्क्रमण

इस चिंतन और निर्णय के साथ ही नमि ने राज्य, अंतःपुर, परिवार सबका परित्याग कर राजभवन से अभिनिष्क्रमण कर दिया और वे जंगल में चले गए। उन्हें प्रव्रजित होने के लिए समुद्यत देख देवराज इंद्र उनकी विरक्ति की परीक्षा करने के लिए ब्राह्मण के वेश में उनके समक्ष उपस्थित हुआ। उसने निवेदन कियाह

पासाए कारइत्ताणं, वद्धमाणगिहाणि य।

बालग्गपोइयाओ य, तओ गच्छसि खत्तिया।।

हह हे क्षत्रिय! अभी तुम प्रासाद, वर्धमान-गृह और चंद्रशाला बनवाओ। तदनंतर मुनि बन जाना।

देवराज इंद्र की बात सुन नमि राजर्षि ने कहाह

संसयं खलु सो कुणई, जो मग्गे कुणई घरं।

जत्थेव गंतुमिच्छेज्जा, तत्थ कुव्वेज्ज सासयं।।

हह वह संदिग्ध ही बना रहता है, जो रास्ते में घर बनाता है (न जाने कब उस घर को छोड़कर जाना पड़े)। अतः अपना घर वहीं बनाना चाहिए, जहां जाने की इच्छा होहलक्ष्य होहजहां पहुंच जाने के पश्चात फिर कहीं जाना शेष न रहे।

असली घर

देवराज इंद्र को संबोधित करते हुए राजा नमि ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कियाह‘मैं मकान, प्रासाद, बाग-बगीचे आदि कब तक बनाऊंगा? कितने बनाऊंगा? जो मार्ग में अपना घर बनाता है, उसके मन में सदा संदेह बना रहता है। वह उसमें उलझा हुआ रहता है। यह संसार संदिग्धताओं का घर है। ऐसा संसार मेरा घर नहीं है। मेरा शाश्वत घर तो मोक्ष है। वहां अपना घर में निश्चित रूप में बनाऊंगा।’

आपके मन में जिज्ञासा हो सकती हैह‘क्या रहने के लिए मकान नहीं बनाना चाहिए?’ नहीं बनाने की बात मैं नहीं कहता। एक गृहस्थ के लिए उसकी आवश्यकता और उपयोगिता प्रत्यक्ष है, असंदिग्ध है। किंतु इस बात की सजगता रखना नितांत अपेक्षित है कि उसके प्रति आसक्ति पैदा न हो। यह आसक्ति बहुत ही हानिकारक तत्त्व है। इसमें फंसकर आदमी पथ-भ्रष्ट हो सकता है।

प्रसंग नंद मणियारे का

ज्ञाता (ज्ञाताधर्मकथा) में नंद मणियार (नंद मणिकार) का प्रसंग आया है। वह भगवान महावीर का बारहव्रती श्रावक था। लेकिन भगवान और साधु-साध्वियों के सत्संग के अभाव में धीरे-धीरे उसका सम्यक्त्व कमजोर होने लगा और वह धर्मविमुख बनने लगा। एक बार ज्येष्ठ मास में उसने तेला (तीन दिन का उपवास) किया। तेले में पोषध भी किया। गरमी बहुत थी। इस कारण तेले की रात्रि में उसे तीव्र प्यास लगी। उसकी नींद उड़ गई। वह एकदम आकुल-व्याकुल हो गया। ऐसी स्थिति में उसके मन में विचार आयाह्रवे लोग सचमुच धन्य हैं, जो कुआं, तालाब, बावड़ी आदि बनवाते हैं। अनेकानेक व्यक्ति उनके जल का उपयोग करते हैं। लोगों की प्यास तो बुझती ही है, नहाने-धोने में भी उनके पानी का उपयोग होता है। मैं भी प्रातः पोषध संपन्न कर राजसभा में जाऊंगा और महाराज श्रेणिक से इस नगरी में एक बावड़ी बनाने की अनुमति प्राप्त करूंगा। बावड़ी भी ऐसी, जो सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं के साधनों से युक्त हो।

दूसरे दिन पोषध की संपन्नता के पश्चात जैसे ही वह आवश्यक कार्यों से निवृत्त हुआ, अपने चिंतन के अनुसार राजगृहपति सम्राट श्रेणिक की राजसभा में पहुंचा। उपयुक्त अवसर देखकर उसने महाराज से नगरी में एक बावड़ी बनाने की अनुमति प्राप्त की और यथाशीघ्र उसका निर्माण-कार्य प्रारंभ कर दिया। कुछ ही दिनों में बावड़ी बनकर तैयार हो गई। पर वह बावड़ी कोई सामान्य बावड़ी नहीं थी, अपितु पूरे राजगृह में एक विशिष्ट बावड़ी थी, अद्वितीय बावड़ी थी। उसमें भोजनशाला, चित्रशाला, चिकित्सालय और अलंकारशाला की समुचित व्यवस्था थी। यानी सभी तरह की सुविधाओं एवं मनोरंजन के साधनों से परिपूर्ण थी वह बावड़ी।

इतनी विशाल, भव्य और सभी तरह की सुख-सुविधाओं एवं मनोरंजन के साधनों से युक्त इस बावड़ी को देख राजगृह के लोग कहने लगेह्र'धन्य हो नंद! तुमने अपना नाम अमर कर लिया।' जन-जन के मुख अपनी इस तरह की प्रशंसा सुन नंद मणियार गर्व से फूलकर कुप्पा बन गया।

यह एक सामान्य बात है कि आदमी को नाम, यश, कीर्ति की भूख सताती है। इसे उसकी एक दुर्बलता ही मानना चाहिए कि वह अपने कार्य की औरों के मुंह से प्रशस्ति सुनना चाहता है। आप देखें, अनेक लोग ऐसे होते हैं, जो सामाजिक कार्यों हेतु एवं सभा-संस्थाओं को यों तो चंदा देना

नहीं चाहते, जब-तब किसी बहाने मनाही भी कर देते हैं, किंतु वे ही लोग नाम के प्रलोभन से देने को तैयार हो जाते हैं। इसे आप उनकी दुर्बलता के अतिरिक्त और क्या कहेंगे?

सम्यक्त्व की घात

नंद मणियार के मन में नाम की भूख तो थी ही, अपना यश एवं कीर्ति सुनकर वह मन में गर्वित भी बना। साथ ही उसने एक भूल और की। बावड़ी बनाकर उसने अपने मन में समझा कि मैंने कितने धर्म और पुण्य का काम किया है! बस, इस मिथ्या दृष्टिकोण ने उसे मिथ्यादृष्टि बना दिया। कोई पूछ सकता है 'मिथ्या दृष्टिकोण क्या?' मिथ्या दृष्टिकोण यह कि उसने सामाजिक व्यवहार और लौकिक कर्तव्य को मोक्ष, धर्म और अध्यात्म के साथ जोड़ दिया था। तेरापंथ-प्रणेता आचार्य भिक्षु ने इस संदर्भ में हमें बहुत सुंदर और यथार्थपरक दृष्टिकोण दिया। इस विषयक दूसरे-दूसरे लोगों के चिंतन में और तेरापंथ के चिंतन में एक मौलिक अंतर है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय कर्तव्यों को निभाना एवं समाज व राष्ट्र की विभिन्न अपेक्षाओं की पूर्ति करना प्रत्येक सामाजिक प्राणी एवं राष्ट्र के नागरिक के लिए आवश्यक होता है। यदि कोई व्यक्ति अपना कर्तव्य नहीं निभाता है, उनकी अपेक्षाएं पूरी नहीं करता है तो उस पर समाज और राष्ट्र का ऋण रह जाता है। अब रही बात कि सामाजिक एवं राष्ट्रीय कर्तव्यों अथवा अपेक्षा-पूर्ति से संबद्ध हिंसायुक्त प्रवृत्तियों को क्या समझा जाए। जहां तेरापंथ हिंसा से जुड़ी किसी भी प्रवृत्ति में पुण्य और लोकोत्तर धर्म नहीं मानता, उसे अध्यात्म के साथ नहीं जोड़ता, वहीं दूसरे-दूसरे लोग उसमें पुण्य मानते हैं, लोकोत्तर धर्म और अध्यात्म की प्ररूपणा करते हैं।

नंद मणियार इस बावड़ी बनवाने को पुण्य और धर्म मानने के कारण उसमें आसक्त हो गया। इतना आसक्त कि वह कदाचित् खाना-पीना तो फिर भी छोड़ देता, पर बावड़ी आना नहीं भूलता। इस अत्यधिक आसक्ति के परिणामस्वरूप वह काल-धर्म को प्राप्त कर इसी पुष्करणी में मेढक के रूप में उत्पन्न हुआ। लोग जब पुष्करणी में स्नान आदि करते, तब प्रसंगवश नंद मणियार की प्रशंसा करते। मेढक के रूप में जनमे नंद मणियार ने जब बार-बार नंद मणियार नाम सुना तो वह ऊहापोह में खो गया। उसका चित्त एकाग्र हुआ और गवेषणा करते-करते उसे जातिस्मृतिज्ञान हो गया। उसके आधार पर जैसे ही उसने अपना पूर्व भव देखा, वह घोर अनुताप करने

लगाह 'हा! बावड़ी बनाने के प्रति मिथ्या दृष्टिकोण अपनाकर मैंने सम्यक्त्व-जैसा दुर्लभ रत्न खो दिया। लोगों के मुंह अपनी प्रशंसा सुन गर्वोन्मत्त बन गया। आसक्ति से तो मेरा अहित हुआ ही है, गर्वोन्मत्तता के कारण भी कम अहित नहीं हुआ है।'

तीन प्रकार के गौरव

शास्त्रों में तीन प्रकार के गौरव बताए गए हैं। १. ऋद्धि गौरव २. रस गौरव ३. साता गौरव।

इनमें से पहला है ऋद्धि-गौरव। ऋद्धि का गर्व नहीं करना चाहिए। आज जो व्यक्ति लक्ष्याधीश है, कोट्याधीश है, वह कल कंगाल बन जाता है। कवि ने कितना सुंदर कहा है **हैहरिक्ताश्च भरिताः, भरिताश्च रिक्ताः।** यह परिवर्तन होता रहता है।

दूसरा है रस-गौरव। इसका तात्पर्य सुस्वादु और मनोज्ञ पदार्थों की प्राप्ति का गर्व करना। आज विविध प्रकार के सुस्वादु और मनोज्ञ पदार्थ व्यक्ति को उपलब्ध हैं, पर कल ऐसी परिस्थिति आती है कि रूखा-सूखा भोजन भी मुश्किल से मिल पाता है। अतः किसी को भी रस का गर्व नहीं करना चाहिए।

तीसरा है साता-गौरव। 'अहा! मैं कितना स्वस्थ हूँ! मेरा शरीर कितना सुंदर और कांतियुक्त है!.....' व्यक्ति को इस तरह का गर्व नहीं करना चाहिए, क्योंकि देखते-देखते यह शरीर भयंकर व्याधि से ग्रस्त हो जाता है। वह कांत से अकांत दिखने लगता है।

प्रसंग सनत्कुमार चक्रवर्ती का

सनत्कुमार चक्रवर्ती का उदाहरण हमारे समक्ष है। उसका शरीर पूर्ण नीरोग था। रूप-संपदा असाधारण थी। एक बार देवसभा में इंद्र ने उसके रूप की प्रशंसा की। अन्य सभी देवों ने तो उसका कथन सहर्ष स्वीकार कर लिया, पर दो देवों को उसकी बात पर विश्वास नहीं हुआ। वे ब्राह्मण का रूप बनाकर उसके इस कथन की यथार्थता की परीक्षा करने के लिए चक्रवर्ती सनत्कुमार के पास पहुंचे। उस समय वह स्नान करने की तैयारी में था। उन्हें आया देख उसने शिष्ट अभिवादन के साथ उनसे आने का प्रयोजन पूछा। ब्राह्मणरूप देवों ने कहाह 'महाराज! हमने आपकी रूप-संपदा की महिमा सुनी थी। उसी का साक्षात्कार करने बहुत दूर से चलकर आए हैं। महाराज!

हमारा यहां आना सार्थक हो गया। जितनी रूप-संपदा सुनी थी, उससे कहीं अधिक देखकर हमें अत्यंत प्रसन्नता है।' अपने रूप की प्रशंसा सुन चक्रवर्ती अहं से मन-ही-मन फूल उठा। उसने कहाह 'विप्रो! अभी मेरा रूप क्या देख रहे हैं! शरीर पर से अलंकार आदि उतारे हुए हैं। उस पर विलेपन भी किया हुआ है। यदि मेरे रूप की छटा ही देखनी है तो थोड़ी देर ठहरें। स्नान से निवृत्त होने के पश्चात जब मैं वस्त्रालंकार आदि धारण कर राजसिंहासन पर बैठूं, तब देखना।' ब्राह्मणरूप देवों ने कहाह 'ठीक है, हम ठहर जाएंगे।' कुछ समय पश्चात स्नानादि से निवृत्त हो तथा वस्त्र, आभूषण आदि धारण कर चक्रवर्ती राजसभा में आकर सिंहासनारूढ़ हुआ। दोनों ब्राह्मणों ने चक्रवर्ती को गौर से निहारा। उसका अनुमान था कि ये दोनों ब्राह्मण निश्चित ही मेरे रूप की मुक्त कंटों से प्रशंसा करेंगे। किंतु यह क्या! दोनों ब्राह्मणों ने नाक-भौं सिकोड़ते हुए सिर हिलायाह 'अहो! पहलेवाला वह रूप अब नहीं रहा।' चक्रवर्ती चौंकाह 'आप यह क्या कह रहे हैं!' ब्राह्मण बोलेह 'महाराज! हम बिलकुल यथार्थ कह रहे हैं। पहले आपका शरीर अमृतमय था, किंतु अब यह विषमय बन चुका है। इसमें गलित कोढ़ आदि सोलह महारोग उत्पन्न हो चुके हैं। यदि आपको हमारी बात पर विश्वास न हो तो एक बार थूककर देख लें। आपको वास्तविकता ज्ञात हो जाएगी।' सनत्कुमार चक्रवर्ती ने थूका तो उसमें कीड़े किलबिला रहे थे। जो मक्खियां उस पर आकर बैठीं, वे तत्काल मर गईं। अब सम्राट को भान हुआ कि रूप का अभिमान करने के कारण मैं भयंकर रोगों से आक्रांत हो गया हूं।

यह मात्र सनत्कुमार चक्रवर्ती की बात नहीं है, अपितु सभी लोगों की बात है। आसक्ति और अहं हर व्यक्ति के लिए अहितकर है। इसलिए जो भी व्यक्ति अपना हित चाहता है, उसे ऋद्धि, रस और साताहशारीरिक रंग-रूप, कद-काठी और स्वास्थ्य तथा प्राप्त सुख-सुविधाओं का गर्व नहीं करना चाहिए।

एक बोध-पाठ

मैं नंद मणियार की बात कह रहा था। उसने सम्यक्त्वी से मिथ्यात्वी बनकर अपनी गति बिगाड़ ली। मनुष्य से तिर्यच बन गया। अहा! कितना बड़ा अहित कर लिया! यहां खास समझने की बात यह है कि वह मिथ्यात्वी किस कारण बना। यद्यपि यह बात मैं पूर्व में स्पष्ट कर चुका हूं, तथापि एक बार और स्पष्ट कर दूं, ताकि यह विषय सबको बिलकुल स्पष्ट हो जाए।

क्या इसलिए कि उसने बावड़ी बनवाई? नहीं, बावड़ी बनवाने के कारण वह मिथ्यात्वी नहीं बना। फिर क्या कारण था मिथ्यात्वी बनने का? कारण यह कि उसकी श्रद्धा, विश्वास या मान्यता मिथ्या बन गई। यदि वह बावड़ी बनवाने की बात को पुण्य, धर्म या अध्यात्म के साथ न जोड़कर मात्र अपना सामाजिक अथवा राष्ट्रीय कर्तव्य समझता तो उसके सावद्य क्रिया तो अवश्य लगती, पर वह सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्वी नहीं बनता।

यह ऐतिहासिक घटना-प्रसंग इस बात का निदर्शन और बोध-पाठ है कि पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय दायित्व एवं कर्तव्य निभाने में व्यक्ति अपनी दृष्टि सम्यक रखे। इनसे संबद्ध किसी भी प्रवृत्ति को वह मात्र अपना दायित्व और कर्तव्य ही समझे, उसे पुण्य, लोकोत्तर धर्म और अध्यात्म समझने की भूल कदापि न करे। ऐसी स्थिति में वह अपने विभिन्न पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्व एवं कर्तव्य निभाते हुए भी अपना सम्यक्त्व-रत्न सुरक्षित रख सकेगा। उस पर किसी प्रकार की आंच नहीं आएगी।

लौकिक धर्म की दृष्टि

यदि नंद मणियार के बावड़ी में आसक्त होने, उसका अहं करने तथा उसके निर्माण की प्रवृत्ति को पुण्य, लोकोत्तर धर्म और अध्यात्म जो जोड़ने की बातें छोड़ दें और मात्र लौकिक धर्म या राष्ट्रधर्म की दृष्टि से विचार करें तो एक सामाजिक प्राणी की भूमिका में उसकी यह प्रवृत्ति मात्र सावद्य होने के कारण अनुचित एवं अनुपादेय नहीं मानी जा सकती। हम यह बात अच्छी तरह से जानते हैं कि एक सामाजिक प्राणी का जीवन हिंसा के साथ जुड़ा हुआ होता है। अपने पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय विभिन्न दायित्व निभाने के लिए अनेक ऐसे कार्य करना भी उसके लिए जरूरी होता है, जिनमें प्रत्यक्ष हिंसा होती है। किंतु मात्र इस बहाने वह उनसे विमुख नहीं हो सकता। यदि होता है तो मानना चाहिए कि वह अपने दायित्वों के प्रति जागरूक नहीं है, अपने कर्तव्यों की अनदेखी कर रहा है।

लोकोत्तर धर्म की दृष्टि

पर लोकोत्तर धर्म और अध्यात्म की दृष्टि इससे सर्वथा भिन्न है। वहां तो हिंसा-मात्र त्याज्य है, अनुपादेय है। ऐसी स्थिति में हिंसात्मक कोई भी प्रवृत्ति, भले वह सामाजिक एवं राष्ट्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण भी क्यों न हो, वहां मान्य नहीं है। जिस व्यक्ति की आध्यात्मिक चेतना पूर्णतः जागृत हो

जाती है, जो व्यक्ति लोकोत्तर धर्म के प्रति सर्वात्मना समर्पित हो जाता है, घर, परिवार और समाज से विसंबद्ध बन जाता है, वह शरीर, वाणी और मन किसी भी स्तर पर किसी सावद्य प्रवृत्ति के साथ नहीं जुड़ सकता। फिर भले वह बावड़ी का निर्माण हो अथवा चूने, पत्थर आदि का कोई अन्य निर्माण अथवा कोई दूसरी सावद्य प्रवृत्ति। नमि राजर्षि इसी भूमिका पर खड़े थे। यही कारण है कि उन्होंने देवराज इंद्र के इस निवेदन को अस्वीकार कर दिया कि दीक्षित होने से पूर्व बाग-बगीचों, गगनचुंबी प्रासादों आदि का निर्माण करवाकर आपको अपनी राजधानी मिथिला का सौंदर्य बढ़ाना चाहिए।

घर बनाने की बात मैंने प्रारंभ में कही थी। इसे संदर्भ-भेद से समझना अत्यंत आवश्यक है। फिर आपके समक्ष किसी प्रकार की उलझन नहीं रहेगी।

बेंगलुरु

१४ अगस्त १९६६

९ : कौन चोर : कौन साहूकार

नमि राजर्षि और देवराज इंद्र का संवाद चल रहा है। कल इस संदर्भ में आपने कुछ सुना। आज भी उसी संदर्भ में कुछ बताना चाहूंगा। दीक्षित होने के लिए समुद्यत नमि की परीक्षा लेने के लिए ब्राह्मण के वेश में पहुंचे देवराज इंद्र ने उनसे कहाह

आमोसे लोमहारे य, गंठिभेए य तक्करे।

नगरस्स खेमं काऊणं, तओ गच्छसि खत्तिया।।

हू हे क्षत्रिय! अभी तुम वटमारों, प्राणहरण करनेवाले लुटेरों, गिरहकटों और चोरों का निग्रह कर नगर में शांति स्थापित करो। तदनंतर मुनि बन जाना।

नमि राजर्षि ने देवराज इंद्र की बात अवधानपूर्वक सुनी और इस संदर्भ में अपना चिंतन स्पष्ट करते हुए कहाह

असइं तु मणुस्सेहिं, मिच्छा दंडो पंजुई।

अकारिणोऽथ बज्झंति, मुच्चई कारओ जणो।।

हू मनुष्यों द्वारा अनेक बार मिथ्यादंड का प्रयोग किया जाता है। अपराध न करनेवाले यहां पकड़े जाते हैं और अपराधी छूट जाता है।

नमि राजर्षि ने कहाह 'इस संसार में हमें जो कुछ दिखाई देखा रहा है, वही यथार्थ नहीं है। जिन्हें व्यवहार में चोर समझा जाता है, संभव है कि वे साहूकार हों, साधु पुरुष हों, सज्जन हों। इसके ठीक विपरीत जिन्हें साहूकार और सज्जन माना जाता है, वे भयंकर डाकू और लुटेरे हो सकते हैं। यहां बहुधा देखा जाता है कि निरपराधी लोग तो दंडित हो जाते हैं तथा भयंकर अपराधी झूठ का सहारा लेकर, दांव-पेंच खेलकर, रिश्वत का पासा फेंककर साफ-साफ बरी हो जाता है। यहां जो अपराधी किसी तरह कानून के हत्थे चढ़ जाता है, उसे दंडित किया जाता है तथा जो प्रशासन और कानून की

गिरफ्त में नहीं आते, वे अपराध करके भी साहूकार और सज्जनपुरुष का सम्मान प्राप्त करते हैं। यहां साहूकार और सज्जन पुरुषों के रूप में न जाने कितने चोर, डाकू, लुटेरे और गिरहकट आराम से घूमते-फिरते हैं। उन्हें कोई कुछ कहने-सुननेवाला भी नहीं होता।’

मौत से बचने की युक्ति

नमि राजर्षि के उपर्युक्त कथन के संदर्भ में मुझे एक कहानी याद आ रही है। एक चोर था। एक बार चोरी के अपराध में पकड़ा गया। अपराध साबित होने पर उसे फांसी की सजा मिली। चोर को फांसी के तख्ते पर ले जाया गया। फांसी का फंदा उसके गले में डालने से पूर्व उससे अंतिम इच्छा के बारे में पूछा गया। चोर बोलाहूँ ‘मैं मोती निपजाने की अत्यंत महत्त्वपूर्ण विद्या जानता हूँ। मुझे तो अब मरना है। बस, कुछ समय का मेहमान हूँ। मैं चाहता हूँ कि मरने से पूर्व वह दुर्लभ विद्या महाराज को सिखा दूँ, जिससे वे चाहे उतने मोती पैदा कर सकें।’ राजा तक उसकी अंतिम इच्छा की बात पहुंचाई गई। राजा ने उसको अपने सम्मुख हाजिर करने का आदेश दिया। तत्काल चोर को राजा के समक्ष उपस्थित किया गया। राजा ने पूछाहूँ ‘क्या तुम सचमुच मोती निपजाने की विद्या जानते हो?’ चोर बोलाहूँ ‘महाराज! मौत मेरी आंखों के सामने नाच रही है। फिर मैं आपके समक्ष झूठ क्यों बोलूंगा? आप मेरी बात पर विश्वास करें।’ राजा ने मोती की खेती करके दिखाने के लिए उसे सावधिक अवकाश प्रदान करते हुए मुक्त कर दिया। अपेक्षित जमीन और अर्थ की व्यवस्था भी कर दी। चोर ने खेती की जमीन तैयार की और जैसे ही आषाढ़ का महीना आया, वह राजसभा में उपस्थित हुआ और राजा से बोलाहूँ ‘महाराज! जमीन तैयार है। उसमें बीज डालने का समय आ गया है। बीज कौन डालेगाहूँ आप बताने की कृपा करें, ताकि बीज डालने की पूरी विधि उसे समझा सकूँ।’ राजा ने कहाहूँ ‘किसी अन्य की क्या जरूरत है? तुम खुद ही बीज क्यों नहीं डालते?’ चोर बोलाहूँ ‘महाराज! मैं उसके लिए पात्र नहीं हूँ, क्योंकि चोर हूँ। मोती की खेती के लिए बीज डालने की दृष्टि से एकमात्र साहूकारहूँ जिसने अपने जीवन में कभी किसी प्रकार की चोरी न की होहूँ पात्र है।’ ऐसा कहते हुए उसने सभा में खुला आह्वान कियाहूँ ‘जो भी व्यक्ति ऐसी पात्रता रखता हो, वह आगे आए और महाराज का यह महत्त्वपूर्ण कार्य संपादित करे।’ चोर की बात सुन सारी राजसभा क्षणभर के लिए स्तब्ध रह गई। खचाखच भरी राजसभा में से प्रधानमंत्री-सहित कोई भी सभासद चोर का यह आह्वान या

चुनौती नहीं झेल पाया। सब एक-दूसरे का मुंह देखने लगे।

तब अवसर का पूरा लाभ उठाते हुए चोर ने अत्यंत विनम्रता एवं शालीनतापूर्वक राजा से निवेदन कियाह 'महाराज! कटु यथार्थ आपके समक्ष है। अब आप जरा गंभीरतापूर्वक चिंतन करें कि किस-किस को फांसी की सजा देंगे।'

चोर की बात राजा ने सुनी। राजसभा का सारा दृश्य और परिस्थिति उसके सामने प्रत्यक्ष थी। राजा कोई नासमझ नहीं था। उसे यह समझने में अब जरा भी देर नहीं लगी कि मोती की खेती के बहाने यह मौत से बचने की युक्ति है। एक क्षण बाद उसके मन में विचार आयाहभले यह चोर मोती निपजाने की विद्या नहीं जानता, पर मौत से बचने की कला अवश्य जानता है। बेशक किसी कारण यह चोरी के दुर्व्यसन में फंस गया है, पर है बहुत बुद्धिमान। और अब तो इसकी बुद्धिमत्ता प्रकट भी हो चुकी है। ऐसी स्थिति में इसे फांसी देना कोई समझदारीपूर्ण कार्य नहीं होगा। अब तो इसकी बौद्धिक प्रतिभा का उपयोग राजकाज के संचालन में किया जाए, यही उपयुक्त है। यदि मैं इसे कोई महत्वपूर्ण दायित्व सौंप देता हूं तो इसकी चोरी की लत तो अपने-आप छूट जाएगी। इस चिंतन के साथ उसने उसकी फांसी की सजा माफ कर दी और उसे नगर-कोतवाल के पद पर नियुक्त कर दिया।

आप देखें, पूरी राजसभा का कोई भी सभासद खुद को साहूकार के रूप में प्रस्तुत नहीं कर सका। आशय स्पष्ट है कि सभी किसी-न-किसी रूप में चोरी के अपराधी थे। पर वे चूंकि पकड़े नहीं गए, अतः दंडित नहीं हुए। और यह चोर अपराधी के रूप के पकड़ा गया, अतः दंडित हो गया।

सीता पर झूठा आरोप

आप देखें, सीता-जैसी आदर्श महासती के शील पर संदेह व्यक्त किया गया। उस पर दुश्चरित्रा का सर्वथा झूठा आरोप किया गया। इस कारण उसे अग्नि-परीक्षा से होकर गुजरना पड़ा। दूसरी तरफ उस समय न जाने कितनी ऐसी महिलाएं होंगी, जो वस्तुतः ही दुश्चरित्रा थीं, किंतु उनके शील पर कभी कोई आरोप नहीं आया। हम छोड़ें अतीत की बात, वर्तमान की बात ही लें। आज कितनी महिलाएं ऐसी हैं, जो अपने अखंड शील की अग्नि-परीक्षा दे सकें, अपनी छाती पर हाथ रखकर सीता की तरह यह कह सकें कि यदि सोते-जागते, उठते-बैठते मन, वचन और कर्म से किसी परपुरुष के प्रति वासनाग्रस्त हुई हूं तो अग्नि तत्काल मुझे भस्म कर दे तथा इस संकल्प के

साथ अग्निकुंड में छलांग लगा दें? हालांकि नास्ति तो नहीं है, तथापि मुझे लगता है कि बहुत कम महिलाएं ही इस कोटि की मिलेंगी। अधिकतर की स्थिति तो आप लोगों से छिपी नहीं है। किंतु परपुरुष के प्रति वासनाग्रस्त होने के बावजूद दुश्चरित्रा का आरोप कितनी महिलाओं पर आता है?

नमि राजर्षि इंद्र को यही बात समझा रहे हैं। उन्होंने इंद्र से कहा है 'आप मुझे चोरों, लुटेरों आदि का निग्रह करने की बात कह रहे हैं। किंतु इस संसार की स्थिति बहुत विचित्र है। यहां चोर और साहूकार का यथार्थपरक निर्णय करना बहुत कठिन कार्य है। ऐसी स्थिति में मैं किसका निग्रह करूं और किसका न करूं? अपराधियों का निग्रह करने के प्रयास में कहीं किसी बेगुनाह को दंडित कर मैं स्वयं ही अपराधी न बन जाऊं। अतः अपराधियों का निग्रह करने के प्रपंच में मैं नहीं पड़ना चाहता। मैं आज आंतरिक चेतना की जिस भूमिका पर खड़ा हूं, वहां तो अपनी आत्मा का निग्रह करना ही इष्ट है, आत्मगुणों के लुटेरोंहक्रोध, मान, माया और लोभ का निग्रह करना ही इष्ट है और वही करने के लिए मैं संकल्पित हूं, कटिबद्ध हूं।'

बेंगलुरु

१५ अगस्त १९६९

१० : परविजय : आत्मविजय

मुनि बनने के लिए मिथिला के राजभवन से अभिनिष्क्रमण कर जंगल में पहुंचे नमि राजर्षि और उनके वैराग्य की परीक्षा करने के लिए ब्राह्मण के वेष में पहुंचे देवराज इंद्र के बीच संवाद चल रहा है। इंद्र ने नमि राजर्षि से कहाह

जे केइ पत्थिवा तुब्भं, नानमंति नराहिवा!

वसे ते ठावइत्ताणं, तओ गच्छसि खत्तिया।।

हू हे नराधिप! जो कतिपय राजा तुम्हारे सामने नहीं झुकते, उन्हें वश में करो। तदनंतर मुनि बन जाना।

नमि राजर्षि से इंद्र ने कहाह 'मिथिलेश! आप मुनि बनने के लिए समुद्यत हैं। पर मेरा निवेदन है कि दीक्षित होने से पूर्व आप अपने राजधर्म पर अपना ध्यान केंद्रित करें। इस दृष्टि जो-कुछ भी करणीय है, उसकी किंचित भी उपेक्षा न करें। आप जानते हैं कि आज अनेक ऐसे राजा हैं, जो अपने ऐश्वर्य और शक्ति के अहं में आपको नमन नहीं करते, आपके समक्ष नहीं झुकते, आपका आधिपत्य स्वीकार नहीं करते। उन्हें आप पहले अपने बुद्धि-बल, सैन्य-बल, शस्त्र-बल और भुज-बल के द्वारा वश में करें। उसके पश्चात दीक्षित हो जाना।

आत्म-विजय ही महत्त्वपूर्ण है

नमि राजर्षि ने कहाह

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।

एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ।।

हू एक पुरुष दुर्जेय संग्राम में दस लाख योद्धाओं को जीतता है। वही पुरुष एक अपनी आत्मा को जीतता है। तुलनात्मक दृष्टि से उसकी आत्मजय परम विजय है।

नमि राजर्षि ने इंद्र की बात अवधानपूर्वक सुनी। पर उन्हें वह जची नहीं। इस संदर्भ में अपना चिंतन स्पष्ट करते हुए उन्होंने इंद्र से कहा 'विप्रप्रवर! आप कह रहे हैं कि जो राजा मेरा स्वामित्व स्वीकार नहीं करते, उन्हें अपने सैन्य-बल, शस्त्र-बल, भुज-बल आदि के द्वारा अधीनस्थ बनाऊं। पर इस प्रकार की प्रवृत्ति में मेरी तनिक भी अभिरुचि नहीं है, विश्वास भी नहीं है। मैं इसे पाशविक वृत्ति मानता हूं। इस पाशविक वृत्ति के द्वारा मैं अपनी आत्म-शक्ति का किंचित भी अपव्यय नहीं कर सकता। आप देखें, पशु-बल का प्रयोग तो एक विक्षिप्त पुरुष भी कर सकता है। क्या लक्ष्मण कम शक्तिशाली थे? रावण कम शक्तिशाली था? कहा जाता है कि उनकी आवाज मात्र से अनेक व्यक्ति मर जाते थे। संसार में अपने सैन्य-बल, शस्त्र-बल आदि का प्रयोग कर दूसरों को जीतनेवाले अनेक व्यक्ति मिल जाएंगे। इतना ही क्यों, ऐसे शक्तिशाली पुरुष भी संसार में हो सकते हैं, जो दुर्जेय संग्राम में दस लाख योद्धाओं पर भी विजय प्राप्त कर लें, पर मैं आज चेतना की जिस भूमिका पर खड़ा हूं, मुझे इसमें कोई विलक्षणता प्रतीत नहीं होती, कोई वैशिष्ट्य नजर नहीं आता। उनकी इस विजय को मैं कोई महत्त्व नहीं देता। मेरी दृष्टि में तो अपनी एक आत्मा को जीतना ही महत्त्वपूर्ण है। दस लाख योद्धाओं पर विजय प्राप्त करने की अपेक्षा आत्मविजय को ही परम विजय मानता हूं। आप यदि पूछें कि आत्मविजय से क्या तात्पर्य है तो उसका संक्षिप्त-सा उत्तर है 'आत्मानुशासी बनना, अपने-आपको संयमित बनाना, अपनी वृत्तियों-प्रवृत्तियों पर संयम का अंकुश लगाना। निःसंदेह स्वयं को संयमित बनाने से बड़ी कोई विजय नहीं हो सकती, उपलब्धि नहीं हो सकती।'

मुश्किल है राग का बंधन तोड़ना

बंधुओ और बहनो! यह आत्म-संयम की बात, परम विजय की बात हर कोई नहीं कर सकता। कौन कर सकता है? वही कर सकता है, वही कह सकता है, जिसने अपनी आत्मा को संयम से भावित कर लिया हो, अपने मन को अपने वश में कर लिया हो, अपनी इंद्रियों का निग्रह कर लिया हो, अन्यथा ऐसा संभव नहीं है। मैं समझता हूं कि इसके लिए अत्यंत मनोबल और आत्मबल की अपेक्षा रहती है। कमजोर व्यक्ति तो कोई सुंदर रूप सामने आते ही चक्षुकुशील बन जाता है। इसी तरह मनोज्ञ स्पर्श, रस, गंध और शब्द में वासनाग्रस्त बन जाता है। उनके प्रति उसके मन में आसक्ति हो जाती है, राग का भाव जुड़ जाता है। यह राग का बंधन बहुत

जटिल होता है। इतना जटिल कि समय पर लोहे की सांकल तोड़ना आसान है, पर उसे तोड़ना मुश्किल है। जो इस बंधन को तोड़ डालता है, वह सचमुच महान है। श्रीमद्राजचंद्र ने कितना सुंदर कहा है

निरखनै नवयौवना, लेश न विषय वितान।

गणे काष्ठ नीं पूतली, ते भगवान समान॥

हृ शृंगार-सुसज्जित तथा अपने हाव-भाव से विभ्रम पैदा करनेवाली नवयौवना को देखकर जो पुरुष उसे काठ की पुतली मानते हुए उसके प्रति विकार भाव नहीं लाता, वह भगवान के तुल्य है।

संस्कृत कवि ने इसी बात को इस रूप में कहा है **हैहविकारहेतौ सति विक्रियन्ते, येषां न चेतांसि त एव धीराः** हविकार पैदा होने के निमित्त मिलने पर भी जिनका मन निर्विकार रहता है, वे ही धीर हैं।

नमि राजर्षि और इंद्र का संवाद चल ही रहा है। जहां इंद्र उन्हें अपने राजधर्म की स्मृति दिलाते हुए पर-विजय के लिए प्रेरित कर रहा है, वहीं नमि उसे अध्यात्म का पाठ पढ़ाते हुए आत्म-विजय का महत्त्व और वैशिष्ट्य उजागर कर रहे हैं।

बेंगलुरु

१६ अगस्त १९६६

११ : किसके साथ करें युद्ध

देवराज इंद्र और नमि राजर्षि का संवाद चल रहा है। कल आपने सुना कि देवराज इंद्र ने राजधर्म की बात कह नमि को दूसरे-दूसरे राजाओं को युद्ध में परास्त कर उन पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया। किंतु नमि संसार से पूर्णतः विरक्त होकर अध्यात्म की भूमिका पर आरोहण कर चुके थे, अतः उन्हें दूसरों पर विजय प्राप्त करने की बात बिलकुल नहीं जची। उन्होंने आध्यात्मिक दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए आत्म-विजय को उपादेय और परम विजय बताया।

अपनी बात का क्रम चालू रखते हुए उन्होंने आगे कहाह

- अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ ?
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए॥
- पंचिंदियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोहं च ।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वं अप्पे जिए जियं॥

ह आत्मा के साथ ही युद्ध कर। बाहरी युद्ध से तुझे क्या लाभ ?
आत्मा को आत्मा के द्वारा जीतकर ही प्राणी सुख पाता है।

ह पांच इंद्रियां तथा क्रोध, मान, माया और लोभ तथा मनह्ये सब दुर्जेय हैं। एक आत्मा को जीत लेने पर ये सब जीत लिए जाते हैं।

आत्मा से आत्मा के साथ करें युद्ध

अपनी परम विजय की बात और अधिक स्पष्ट करते हुए नमि राजर्षि ने इंद्र से कहाह 'आप मुझे दूसरे-दूसरे राजाओं को अधीनस्थ बनाने के लिए युद्ध करने की बात कह रहे हैं। जहां तक युद्ध करने की बात है, मैं भी आपसे सहमत हूं। पर युद्ध किसके साथ किया जाए, इस बिंदु पर मैं आपसे वैमत्य रखता हूं। मेरी दृष्टि में दूसरों के साथ युद्ध करने का कोई लाभ नहीं, कोई अपेक्षा नहीं। युद्ध तो अपनी आत्मा के साथ करना चाहिए और अपनी आत्मा से ही करना चाहिए। सैन्य बल और बाहरी शस्त्रों का वहां कोई

उपयोग नहीं है। यानी वे व्यर्थ हैं। इस रूप में किए गए युद्ध में अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करके ही प्राणी सुखी बन सकता है।’

प्रश्न उपस्थित हो सकता हैह ‘आत्मा के साथ आत्मा से युद्ध करने का क्या तात्पर्य है? कोई भी व्यक्ति अपनी ही आत्मा के द्वारा अपनी ही आत्मा के साथ युद्ध कैसे कर सकता है?’ नमि राजर्षि ने इसका सुंदर समाधान दिया है। हमारे आत्म-स्वरूप या स्व-स्वरूप के साथ जो विजातीय तत्त्व आसन जमाकर बैठे हैं, उन्हें वहां से हटाने के लिए कोई बाहरी प्रयत्न कारगर नहीं होता, आत्म-साधना के रूप में हमारी आत्मा को ही पुरुषार्थ करना होता है। आप इस बात को एक उदाहरण से समझें। किसी व्यक्ति के शरीर में कोई पिशाच प्रविष्ट हो जाता है। उसके प्रभाव से वह व्यक्ति बेभान बन जाता है। कृत्याकृत्य का विवेक तक उसे नहीं रहता। उस पिशाच से पिंड छुड़ाने के लिए उस व्यक्ति को कठोर तपस्या करनी पड़ती है। इसके बाद ही वह स्वस्थ बन पाता है। हमारी ज्ञान-दर्शनस्वरूपात्मक आत्मा के साथ मोह आदि विजातीय तत्त्व मिल गए हैं, जो कि पिशाच के तुल्य हैं। इन्हें दूर करने के लिए आत्मा को ही पुरुषार्थ करना अपेक्षित होता है।

मोह मदिरा है

मोह को मदिरा से उपमित किया गया है। पर यह बोतल की मदिरा नहीं है, आंतरिक मदिरा है। बोतल की मदिरा पीकर तो व्यक्ति कुछ देर के लिए पागल बनता है, पर मोहरूपी इस आंतरिक मदिरा का नशा इतना जबरदस्त होता है कि प्राणी जन्म-जन्मांतर तक बेभान बना रहता है। इस आंतरिक शत्रु को परास्त करने के लिए तलवार, बंदूक आदि शस्त्रास्त्रों की कोई उपयोगिता नहीं, अपेक्षा नहीं। इसे तो अपनी आत्म-शक्ति के प्रस्फोटन के द्वारा ही परास्त किया जा सकता है। यहां एक बात और समझ लेने की है। यदि आत्म-शक्ति के प्रस्फोटन के द्वारा व्यक्ति अपने मोह-रूप शत्रु को परास्त कर देता है तो फिर अन्य विजातीय तत्त्वों के रूप में दूसरे छोटे-छोटे शत्रुओं को पराभूत करने के लिए उसे अतिरिक्त शक्ति-विस्फोटन की अपेक्षा नहीं पड़ती। मोह के पराभूत होने के बाद वे स्वतः नौ-दो ग्यारह हो जाते हैं। वहां टिके रहने की उनकी जरा भी हिम्मत नहीं रहती।

आप देखें, राम के समक्ष बड़ा शत्रु रावण था। भले राम-रावण युद्ध में रावण-पक्ष के अनेक महारथी युद्ध में मारे जा चुके थे, पर युद्ध समाप्त नहीं

हुआ, राम निश्चिंत होकर नहीं बैठ सके। जिस दिन, जिस क्षण रावण मारा गया, युद्ध समाप्त हो गया, राम निश्चिंत हो गए, भले उसके पक्ष के अनेक महायोद्धा अब भी विद्यमान थे, शस्त्रोस्त्रों से सुसज्जित विशाल सेना मौजूद थी। पर रावण के धराशायी होने के पश्चात प्रतिरोध समाप्त हो गया। कृष्ण की भी तो यही बात है। उन्होंने भले जरासंध-जैसे दुर्जेय मल्ल को पछाड़ दिया, कालिय नाग को नाथ दिया, पर उनका मुख्य शत्रु कंस ही था। अतः जब तक उन्होंने कंस को समाप्त नहीं कर दिया, उनकी राह निष्कंटक नहीं बनी। हालांकि कंस की मृत्यु के पश्चात भी उनके अनेक शत्रु मौजूद थे, तथापि कोई भी उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सका।

पर यह तो बाह्य शत्रुओं की बात है। आंतरिक शत्रुओं का काम और भी कठिन है। यदि उन पर विजय नहीं प्राप्त की जाती है तो वे प्राणी का बड़ा-से-बड़ा अहित और अनिष्ट कर सकते हैं। बाह्य शत्रु तो अवसर देखकर यदा-कदा ही वार करते हैं, जबकि आंतरिक शत्रु तो तब तक बार-बार वार करते ही रहते हैं, जब तक कि वे पूर्णतया समाप्त नहीं हो जाते। जैसा कि मैंने पूर्व में बताया, मोह हमारा आंतरिक शत्रु है और एक अपेक्षा से सबसे बड़ा शत्रु है। मोह एक व्यापक शब्द है। संक्षेप में हम उसे राग और द्वेषहइन दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। चूंकि द्वेष सामने दिखता है, इसलिए उसकी बात सहजतया समझ में आ जाती है, किंतु राग का काम जटिल है। व्यक्ति उससे ग्रस्त भी होता और उसे अनुभव भी नहीं होता। वह उस पर वार भी करता है और उसका यह वार-प्रहार करना व्यक्ति को प्यार करना प्रतीत होता है। इस स्थिति में व्यक्ति उससे बचने की चेष्टा ही नहीं करता। पर यह एक नैश्चयिक सचाई है कि प्यार दिखाकर खत्म करनेवाले शत्रु ज्यादा खतरनाक होते हैं। व्यक्ति को उनसे ज्यादा सावधान रहने की अपेक्षा होती है।

आत्म-विजय की प्रक्रिया

आत्म-विजय की अपनी बात चालू रखते हुए नमि राजर्षि ने आगे कहाह 'पांच इंद्रियां व मन तथा क्रोध, मान, माया और लोभहइन दसों को जीतना सहज नहीं है। बहुत मुश्किल से ये वश में आते हैं। किंतु जो व्यक्ति अपनी आत्मा को जीत लेता है, वह इन दसों पर भी विजय प्राप्त कर सकता है।'

उनके इस कथन से इतना तो बहुत स्पष्ट है कि पांचों इंद्रियां एवं मन

तथा क्रोध, मान, माया और लोभह्वये आंतरिक शत्रु हैं, अन्यथा एक आत्मा को जीतकर इन्हें जीत लिए जाने की बात की कोई सार्थकता नहीं है।

मन और इंद्रियां एकांततः शत्रु नहीं

आप कहेंगेह 'क्रोध, मान, माया और लोभह्वइन चारों के आंतरिक शत्रु होने की बात तो बुद्धिगम्य है, पर पांचों इंद्रियों और मन को शत्रु मानने की बात हमारी समझ से परे है।' मैं एक सीमा तक आपकी इस बात से सहमत हूं। मैं इंद्रियों और मन को एकांततः शत्रु नहीं मानता। ये सब मित्र भी हैं। यदि आंखें न हों तो गुरु-दर्शन और संत-दर्शन कैसे हो पाएंगे? कान न हों तो शास्त्र-श्रवण कैसे हो सकेगा? यदि जिह्वा न हो तो प्रभु-स्तुति कैसे संभव है? यदि मन न हो तो सच्चित्तन कैसे किया जा सकता है? इसलिए सापेक्ष दृष्टि से हमें इन सबको मित्र भी मानना होगा। किंतु नमि राजर्षि का इन्हें शत्रुरूप में प्रतिपादित करने का दृष्टिकोण दूसरा था। जब पांचों इंद्रियां अपने-अपने विषय में विकारग्रस्त हो जाती हैं, तब शत्रु का काम करती हैं, शत्रु बन जाती हैं। कान अश्लील शब्द सुनने लगते हैं, आंखें अश्लील देखने लगती हैं, मनोज्ञ सौंदर्य को आसक्ति की नजर से निहारने लगती हैं। भगवान की स्तुति करनेवाली यह रसना अपशब्द बोलने लगती है, गाली-गलौज के रूप में जहर उगलने लगती है। यह नाक किसी मनोज्ञ गंध पर लुब्ध हो जाती है। यह मन किसी भी सीमा तक दुश्चिंतन करने लगता है। एक वाक्य में कहूं तो मोहकर्म के संयोग से ये पांचों इंद्रियां और मनह्रछहों जब दुष्प्रवृत्त बन जाते हैं, तब शत्रु बन जाते हैं।

नमि राजर्षि देवराज इंद्र से कह रहे हैंह 'भले पांच इंद्रियां और मन तथा क्रोध, मान, माया और लोभह्वये दसों दुर्जेय हैं, पर मैं इस कारण जरा भी चिंतित नहीं हूं, क्योंकि मैंने इन पर विजय प्राप्त करने की सफल प्रक्रिया ज्ञात कर ली है। और वह प्रक्रिया भी कोई लंबी-चौड़ी नहीं है। मात्र एक अपनी आत्मा का दमन करने की अपेक्षा है, उस पर विजय प्राप्त करने की आवश्यकता है। जो भी व्यक्ति अपनी आत्मा को वश में कर लेता है, आत्म-विजेता बन जाता है, वह इन दसों का विजेता बन जाता है। आप मुझे बाहरी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रेरित कर रहे हैं, पर मैं तो आत्म-विजयी बनना चाहता हूं। अपने आंतरिक शत्रुओं को परास्त करने के लिए संकल्पित हूं। इसीलिए मैंने मिथिला के राजभवन से अभिनिष्क्रमण किया है।'

बेंगलुरु, १७ अगस्त १९६९

१२ : संयम ही श्रेय है

दो संस्कृतियां

भारतवर्ष में दो संस्कृतियां रही हैं ब्राह्मण-संस्कृति और श्रमण-संस्कृति। इन दोनों संस्कृतियों में मौलिक क्या अंतर है, यह जानना और समझना आप लोगों के लिए आवश्यक है। ब्राह्मण-संस्कृति मूलतः ईश्वर-कर्तृत्व पर आधारित है। उसकी मान्यता है कि सृष्टि का कर्ता-हर्ता और संचालन करनेवाला ईश्वर है। उसकी इच्छा के बिना इस जगत में एक पत्ता भी हिल नहीं सकता। जैन और बौद्ध श्रमण-संस्कृति के संवाहक हैं। उनका कहना है कि यह सृष्टि अनादि और अनंत है। यानी यह सदा थी और सदा रहेगी। ऐसा नहीं कि अमुक दिन इस जगत का प्रारंभ हुआ था और अमुक दिन यह समाप्त हो जाएगा। किंतु इतना अवश्य मानता है कि इसके पर्यायों में क्षण-क्षण में परिवर्तन होता रहता है। जहां कभी जल था, वहां आज स्थल है और जहां कभी स्थल था, वहां आज जल है। इस प्रकार विभिन्न रूपों में पर्याय-परिवर्तन का क्रम अनवरत चलता रहता है। आप पूछ सकते हैं 'क्या पहले बेंगलोर (बेंगलुरु) नहीं था?' यह तो बहुत स्पष्ट है कि आज का बेंगलोर (बेंगलुरु) सौ वर्ष पूर्व नहीं था। दूर अतीत में जाएं तो संभव है कि यहां केवल पहाड़ और जंगल का ही साम्राज्य रहा हो। तत्त्वरूप में आप इतना समझ लें कि जीव और पुद्गलद्वंद्वों का अस्तित्व शाश्वत है। केवल इनके पर्यायों का परिवर्तन होता रहता है।

पुरुषार्थप्रधान है जैन-धर्म

जैन-धर्म पुरुषार्थप्रधान धर्म है। हालांकि वह भाग्य को अस्वीकार नहीं करता, तथापि वह महत्त्व पुरुषार्थ को ही देता है। जैन-धर्म की मान्यता के अनुसार भाग्य तो प्राणी के पुरुषार्थ के आधार पर निर्मित होता है। कोई ईश्वर उसके भाग्य का निर्माण करनेवाला नहीं है। इस अर्थ में प्राणी स्वयं ही विधाता है, ईश्वर है। उसने पुरुषार्थ के रूप में कल जो बीज बोए थे, भाग्य

के रूप में उनकी फसल आज वह काट रहा है और आज जो बीज बो रहा है, उनकी फसल आगे काटेगा।

तब प्रश्न होगा 'भगवान का स्मरण फिर क्यों?' इसका उत्तर बहुत स्पष्ट है। भगवान का स्मरण किसी प्रकार की भौतिक अभिसिद्धि के लिए नहीं, उन्हें खुश करने के लिए नहीं। भगवान के नाम का स्मरण या आलंबन मात्र इसलिए कि हमारी आत्मा पवित्र बने, हम आत्म-केंद्रित बनें। इसके अलावा और कोई उद्देश्य नहीं, लक्ष्य नहीं। ब्राह्मण-संस्कृति या वैदिक संस्कृति के मुख्य देव ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं। जैन-संस्कृति के देव ऋषभ, अजित आदि चौबीस तीर्थंकर हैं।

परस्पर संक्रमण

अब समझने की बात यह है कि जैन-संस्कृति और ब्राह्मण-संस्कृति का परस्पर इतना संक्रमण हुआ है कि दोनों को सर्वथा पृथक-पृथक करना बहुत कठिन है। वैसे तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो यह संक्रमण या प्रभाव उत्तर भारत में ज्यादा हुआ है। आप देखें, आज जैनों के घरों में भी आपको महादेव, पार्वती, चतुर्भुज आदि देवों की मूर्तियां या चित्र मिलेंगे। इतना ही नहीं, अनेक घरों में उनकी पूजा भी होती है। लोग संभवतः इस भाषा में सोचते हैं कि ये देव प्रसन्न होकर हमें कोई वरदान दे देंगे। पर मैं कहना चाहता हूँ कि व्यक्ति को जो नहीं मिलने का है, वह उसे कहीं से भी नहीं मिलेगा, भले वह किसी की आराधना क्यों न कर ले तथा जो मिलने का है, वह उसे अपने पुरुषार्थ और भाग्य के योग से स्वतः मिल जाएगा।

मैं देख रहा हूँ कि आज का आदमी पुरुषार्थहीन बन रहा है। वह सब-कुछ देवों से पाना चाहता है। मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि वह पराश्रित बनकर अपने पुरुषार्थ या स्व-कर्तृत्व को क्यों भूल रहा है। अकर्मण्य बनने की बात, भाग्य के भरोसे हाथ पर हाथ धरकर बैठने की बात जैन-संस्कृति को कतई मान्य नहीं है। वह सही लक्ष्य से सही दिशा में सतत पुरुषार्थ करने पर बल देती है।

यज्ञ और तीर्थस्नान

ब्राह्मण-संस्कृति या वैदिक संस्कृति में यज्ञ, होम आदि करने की व्यापक मान्यता रही है। प्राचीन काल में बड़े-बड़े नरमेध, अश्वमेध आदि यज्ञ होते थे। किंतु जैन-धर्म और श्रमण-संस्कृति में ये हिंसाप्रधान यज्ञ सर्वथा अमान्य रहे हैं। वैदिक संस्कृति या ब्राह्मण-संस्कृति में प्रयाग, गया आदि

तीर्थस्थान माने गए हैं। ब्राह्मण-संस्कृति के ऋषियों की ऐसी मान्यता अथवा विश्वास रहा है कि तीर्थ-क्षेत्रों में स्नान करने से व्यक्ति को समस्त पापों से मुक्ति मिल जाती है। लेकिन जैन-धर्म और श्रमण-संस्कृति इस स्नान से मात्र शारीरिक शुद्धि मानती है, पाप-मुक्ति या आत्म-शुद्धि की बात उसे स्वीकार नहीं है।

संयम ही श्रेयस्कर है

जैन-धर्म कहता है कि पाप-मुक्ति या आत्म-शुद्धि के लिए त्याग और संयम की अपेक्षा है। आगमों में जैन-संस्कृति और श्रमण-संस्कृति के अनेक बीज भरे पड़े हैं। देवराज इंद्र और नमि राजर्षि का संवाद चल रहा है। इस संवाद में संयम की श्रेष्ठता का स्वर प्रखर रूप में उभरा है। नमि राजर्षि से इंद्र कहता है

जइत्ता विउले जन्ने, भोइत्ता समणमाहणे।
दच्चा भोच्चा या जट्टा य, तओ गच्छसि खत्तिया।।

हू हे क्षत्रिय! अभी तुम प्रचुर यज्ञ करो, श्रमण-ब्राह्मणों को भोजन कराओ, दान दो, भोग भोगो.....उसके पश्चात मुनि बन जाना।

इंद्र की बात सुन नमि राजर्षि कहते हैं

जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए।
तस्सावि संजमो सेओ, अदितस्स वि किंचण।।

हू जो व्यक्ति प्रतिमास दस लाख गायों का दान देता है, उसके लिए भी संयम ही श्रेयस्कर है, भले फिर वह कुछ भी न दे।

संयम-जीवन अंगीकार करने के लिए समुद्यत नमि राजर्षि के वैराग्य की परीक्षा करने के लिए ब्राह्मण की वेष-भूषा में आए इंद्र ने उनसे कहा 'महाराज! आप दीक्षित होने के लक्ष्य से राजभवन से छोड़कर जंगल में आ गए हैं। पर मेरी दृष्टि में यह उचित नहीं है। हालांकि दीक्षित होने को मैं एकांततः अनुचित नहीं मानता, तथापि मेरा चिंतन है कि आपका यह निर्णय असामयिक है। मेरी बात मानें और अभी आप बड़े-बड़े प्रचुर यज्ञ करें, ब्राह्मणों को भोजन कराकर उन्हें तृप्त करें एवं गायों आदि का खूब दान करें। फिर एक बात और है। आप स्वस्थ हैं, आपकी इंद्रियां अभी सक्षम हैं, अतः खूब सांसारिक भोग भोगें। जब इंद्रियां क्षीण हो जाएं, तब बाद में मुनि बन जाना।'

नमि राजर्षि को इंद्र की यह बात बिलकुल नहीं जची। उन्होंने

कहाह 'आपका अपना चिंतन है और मेरा अपना चिंतन। मेरे चिंतन के अनुसार इस संसार में संयम से अधिक श्रेयस्कर कोई दूसरा तत्त्व नहीं हैहून केवल मेरे लिए, अपितु संसार के किसी भी प्राणी के लिए। आप मुझे गौ आदि दान करने की प्रेरणा दे रहे हैं, पर मेरा मानना है कि दो-चार गायों का दान करनेवाले की तो बात ही क्या, दस लाख गायों का दान करनेवाले के लिए भी इस दान की अपेक्षा संयम श्रेयस्कर है, भले फिर वह किसी को कुछ भी न दे। संयम के समक्ष मुझे सब-कुछ फीका-फीका नजर आता है। इसलिए इस श्रेय-पथ पर अविश्रांत आगे बढ़ने के लिए मैंने राजभवन से अभिनिष्क्रमण किया है।'

जैसा कि आपने सुना, इंद्र ने नमि राजर्षि से यज्ञ करना, ब्राह्मणों को भोजन कराना, गायों का दान देना और भोग भोगनाहये चार बातें कही थीं। पर राजर्षि ने इनमें से मात्र गायों के दान देने के संदर्भ में अपना चिंतन रखा। शेष तीन बातों के संदर्भ में अपना कोई मंतव्य स्पष्ट नहीं किया। ऐसा क्यों? क्या उनके संदर्भ में उनके मस्तिष्क में चिंतन की स्पष्टता नहीं थी? नहीं, चिंतन की अस्पष्टता-जैसी कोई बात नहीं थी। मूल बात यह है कि इंद्र ने जो चार बातें कहीं, उनमें से यह गायों का दान देने की बात प्रमुख है। इस प्रवृत्ति का व्यापक प्रचलन रहा है। यज्ञ करना आदि अन्य तीनों बातों का यह उपलक्षण है। नमि ने गौ-दान की बात के संदर्भ में जो कुछ कहा है, उसमें अन्य तीनों बातों का उत्तर भी अंतर्गर्भित है। ऐसी स्थिति में उन्हें अलग से स्पष्ट करने की कोई अपेक्षा ही महसूस नहीं हुई।

ब्राह्मण-संस्कृति और श्रमण-संस्कृति का प्रसंग चल रहा है। यहाँ समझने की बात है कि इंद्र ने जो चार बातें कहीं, उनमें से यज्ञ करना, ब्राह्मणों को भोजन कराना तथा गायों का दान करनाहये तीन बातें वैदिक संस्कृति या ब्राह्मण-संस्कृति से संबद्ध हैं। नमि ने जो उत्तर दिया है, वह श्रमण-संस्कृति और जैन-संस्कृति का दृष्टिकोण है।

विसर्जन : एक विमर्श

प्रसंगवश एक बात और स्पष्ट कर दूँ। नमि राजर्षि ने गौ आदि का दान करने की अपेक्षा संयम को श्रेयस्कर बताया है। मैंने पिछले दिनों विसर्जन की बात कही। यह विसर्जन दान नहीं है। यह दान से भिन्न तत्त्व है। इसे सही ढंग से समझ लेना आवश्यक है। व्यक्ति जब अर्जन करता है, तब विसर्जन क्यों न करे? जब विसर्जन की बात लोगों के समक्ष आई, तब

कुछ लोगों का तर्क रहाह 'जब विसर्जन ही करना है, तब व्यक्ति अर्जन क्यों करे?' यह अर्जन न करने का तर्क एक अपेक्षा से ठीक हो सकता है, पर एक गृहस्थ के लिए व्यावहारिक कदापि नहीं है। सर्वथा अपरिग्रही रहकर वह अपना, अपने परिवार का काम ढंग से चला सके, यह असंभव है। फिर आज के अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी यह सिद्धांत ठीक नहीं है। आज के अर्थशास्त्र का मानना है कि सामाजिक हितों की सुरक्षा करते हुए व्यक्ति अपने बौद्धिक कौशल एवं व्यावसायिक क्षमता के बल पर जितना अर्जन कर सके, करे। जिस समाज के लोग अपने बौद्धिक कौशल एवं व्यापारिक-व्यवसायिक क्षमता का पूरा-पूरा उपयोग नहीं करते, वह समाज आज के अर्थशास्त्र की दृष्टि में अप्रतिष्ठा का पात्र हो जाता है। भगवान महावीर ने अपरिग्रह का सिद्धांत दिया। एक गृहस्थ के लिए अल्प परिग्रह की बात कही। किंतु परिग्रह-संग्रह की अल्पता और अधिकता का कोई निश्चित मापदंड प्रस्तुत नहीं किया। अलबत्ता अनुचित तरीकों से धन-संग्रह न करने का उपदेश दिया। किंतु यह नहीं कहा कि अधिक लाभ होने की स्थिति में वह व्यापार ही न करे। इस परिप्रेक्ष्य में हम एक गृहस्थ के लिए अपरिग्रह की व्यावहारिक सीमा अच्छे ढंग से समझ सकते हैं। वह अपने अर्थोपार्जन के तरीकों में शुद्ध और अशुद्ध का विवेक करे। अशुद्ध और अनैतिक तरीकों से सलक्ष्य बचे। शुद्ध तरीकों से जो धन का उपार्जन हो, उसमें से उस भाग पर से अपना स्वामित्व छोड़े, जो उसकी आवश्यकता से अतिरिक्त है। यदि अतिरिक्त नहीं है, तो भी अपनी आवश्यकता और उपभोग का संकोच कर उसे अपनी मल्लिक्यत से बाहर करे, उस पर से अपना ममत्व छोड़े। धन का जो भाग वह अपनी मल्लिक्यत से बाहर करेगा, उसका सहज ही सामाजिक उपयोग हो सकेगा। इस परिप्रेक्ष्य में विसर्जन की बात का यथार्थपरक मूल्यांकन किया जा सकता है। मैं मानता हूँ कि जिस समाज में अर्जन के साथ विसर्जन का सूत्र नहीं अपनाया जाता है, वह समाज कभी स्वस्थ नहीं रह सकता। वह अनेक प्रकार की समस्याओं से आक्रांत बन जाता है।

मुनि पूर्ण अपरिग्रही होते हैं। वे अर्थार्जन से सर्वथा दूर रहते हैं। और जब अर्थार्जन ही नहीं है, तब उनके लिए विसर्जन की बात तो स्वयं समाप्त हो जाती है। वे तो पूर्ण संयम का जीवन जीते हैं। नमि मुनि बनने को समुद्यत थे। अतः उन्होंने संयम को श्रेय बताते हुए यज्ञ, ब्राह्मण-भोजन, दान और भोगह्वये चारों बातें अस्वीकार कर दीं।

बेंगलुरु, १८ अगस्त १९६६

१३ : प्रेय और श्रेय

वैदिक साहित्य में प्रेय और श्रेयहृये दो शब्द आते हैं। प्रेय का अर्थ हैहृजो मन को प्रिय लगे। खाना व खिलाना, दान देना, यज्ञ करना, भोग भोगना आदि प्रेय हैं। खुद खाना और दूसरों का खिलाना व्यक्ति को अच्छा लगता है। दान देने से व्यक्ति की प्रशंसा होती है, अतः वह भी उसे प्रिय लगता है। काम-भोग आदमी को क्षणिक सुखाभास कराते हैं, अतः वे भी उसे प्रिय हैं। इस क्रम में और भी ऐसी अनेक प्रवृत्तियां गिनाई जा सकती हैं, जो आदमी को प्रिय लगती हैं। श्रेय का अर्थ हैहृजो कल्याणकारी हो। एक तपस्वी तपस्या करता है। उससे उसका शरीर कुश बनता है। ऐसी स्थिति में भले किसी को तपस्या करना अच्छा न लगे, किंतु इतना असंदिग्ध है कि वह कल्याणकारी है, श्रेय है। जैन-तत्त्व-दर्शन में निर्जरा के बारह प्रकार बताए गए हैं। वे सभी बारह-के-बारह प्रकार श्रेय हैं।

प्रेय और श्रेय : दो अलग-अलग भूमिकाएं

उत्तराध्ययन के नौवें अध्ययन का वाचन चल रहा है। इसमें देवराज इंद्र और नमि राजर्षि का संवाद है। आप लोगों ने सुना कि मुनि बनने के लिए तत्पर नमि राजर्षि से इंद्र ने कहा कि तुम अभी प्रचुर यज्ञ करो, ब्राह्मणों को भोजन कराकर उन्हें तृप्त करो, गायों का दान करो और संसार के भोग भोगो। मुनि बाद में बन जाना। तात्त्विक दृष्टि से देखा जाए तो इंद्र की यह अभिप्रेरणा प्रेय की दिशा में बढ़ने की अभिप्रेरणा है, श्रेय की नहीं। हालांकि प्रेय के लिए नमि का निषेध नहीं था, तथापि उन्हें श्रेय अभीष्ट था, उस दिशा में आगे बढ़ने का वे हृद निश्चय कर चुके थे, अतः उन्होंने संयम को दान, यज्ञ, भोग आदि से श्रेष्ठ बताया। नमि अध्यात्म-जागरण की जिस भूमिका पर पहुंच चुके थे, उस भूमिका पर पहुंचे किसी भी व्यक्ति के लिए संयम ही श्रेय हो सकता है, प्रेय नहीं। इंद्र ने जो बात कही, वह सामाजिक दायित्व और लौकिक कर्तव्य की भूमिका की बात है। उस भूमिका में श्रेय

की बात गौण होती है और प्रेय की मुख्य। इस भूमिका-भेद को समझना अत्यंत आवश्यक है। यदि यह भूमिका-भेद अच्छे ढंग से समझ लिया जाए तो प्रेय और श्रेय की भिन्नता समझने में किसी प्रकार की उलझन नहीं होगी। आज की कठिनाई यह है कि लोगों ने प्रेय और श्रेय दोनों को एक कर दिया है। दूसरे शब्दों में आध्यात्मिक या लोकोत्तर धर्म तथा लौकिक कर्तव्य या लोक-धर्म को एक कर दिया है। तत्त्व-दृष्टि से लौकिक कर्तव्य की तुलना में लोकोत्तर धर्म बहुत ऊंचा तत्त्व है। प्रेय की तुलना में श्रेय बहुत महत्त्वपूर्ण है। आप देखें, युद्ध का प्रसंग उपस्थित होने पर सम्यग्दृष्टि और व्रतधारी श्रावक अपने राष्ट्र-धर्म (लौकिक धर्म) का पालन करते हुए युद्ध में अपना-हर संभव योगदान देंगे, किंतु एक प्रतिमाधारी श्रावक उस प्रवृत्ति से नहीं जुड़ेगा। एक संयमी साधु उस झमेले में नहीं जाएगा। निस्संदेह माता-पिता की सेवा करना एक पुत्र का लौकिक कर्तव्य है और एक सामान्य गृहस्थ की भूमिका में वह अपना यह कर्तव्य निभाता है। पर वही पुत्र जब संसार से विरक्त हो जाता है, तब वह माता-पिता, पत्नी, पुत्र और लाखों-करोड़ों की संपत्ति सबको छोड़कर मुनि बन जाता है; आत्म-कल्याण में जुट जाता है; त्याग, तनस्या और संयम का जीवन जीने लगता है। यहां समझने की बात यह है कि आत्म-कल्याण का मार्ग लौकिक कर्तव्य से बहुत ऊंचा है। जहां तक लौकिक कर्तव्य का प्रश्न है, उसके पालन के साथ हिंसा, झूठ, चोरी, अर्थ-संग्रह, असंयम आदि बातें भी किसी सीमा तक जुड़ी हुई हैं और लौकिक धर्म या प्रेय की सीमा में उन्हें अनुचित भी नहीं माना जाता, किंतु जहां लोकोत्तर धर्म या आध्यात्मिक धर्म का प्रश्न है; श्रेय की साधना का प्रश्न है, वहां हिंसा, झूठ, चोरी, अर्थ-संग्रह, असंयम आदि से जुड़ी कोई भी प्रवृत्ति स्वीकार्य नहीं है। जैसा कि मैं पहले ही स्पष्ट कर चुका हूं कि लौकिक धर्म या प्रेय तथा लोकोत्तर धर्म या श्रेयहृदो अलग अलग भूमिकाएं हैं। इन्हें अलग-अलग भूमिकाओं में ही देखा जाना चाहिए। दोनों को मिलाना उचित नहीं, दोनों का घालमेल करना उचित नहीं।

प्रेय अनुस्रोत है, श्रेय प्रतिस्रोत

यह बात तो बहुत साफ है कि प्रेय का मार्ग सरल है और श्रेय का मार्ग कठिन है। प्रेय को स्वीकार करने का अर्थ है अनुस्रोतगामी बननाहृदारा के साथ बहना, स्रोत के अनुकूल चलना। श्रेय को स्वीकार करने का अर्थ है प्रतिस्रोतगामी बननाहृदारा या स्रोत की विपरीत दिशा में चलना। अनुस्रोत

में तो सारा संसार ही बहता है, प्रतिस्रोतगामी कोई-कोई व्यक्ति ही होता है। गार्हस्थ्य प्रेय का पथ है, अनुस्रोत में बहना है, जबकि संन्यास श्रेय का पथ है, प्रतिस्रोत में चलना है। इंद्र ने नमि से कहाह

घोरासमं चइत्ताणं, अन्नं पत्थेसि आसमं।

इहेव पोसहरओ, भवाहि मणुयाहिवा।।

हह हे मनुजाधिप! तुम घोराश्रमहगार्हस्थ्य को छोड़कर अन्य आश्रम की इच्छा करते हो, यह अनुचित है। तुम इसी गार्हस्थ्य आश्रम में रहकर पोषध में रत रहोहअणुव्रत आदि का पालन करो।

इंद्र ने नमि राजर्षि से कहाह‘आपने घोराश्रम का परित्याग कर संन्यासाश्रम स्वीकार करने का निर्णय किया है। इस निर्णय की क्रियान्विति के लिए आप राजभवन छोड़कर वन में भी आ गए हैं। किंतु मुझे आपका यह चिंतन और निर्णय उचित नहीं लगता। मेरी बात मानें और आप घोराश्रमहगृहस्थाश्रम में ही रहते हुए श्रावक-धर्म का पालन करेंहयथाशक्य धर्मारधना करें।’

क्या गृहस्थाश्रम घोर है

यहां पहली बात तो यह समझने की है कि गृहस्थाश्रम को घोराश्रम क्यों कहा गया है। दूसरी बात यह है कि आश्रम-व्यवस्था श्रमण-संस्कृति की देन नहीं है। यह व्यवस्था वैदिक संस्कृति की है। इसने चार आश्रमों की व्यवस्था दी। चार आश्रम हैंह१. ब्रह्मचर्य आश्रम २. गृहस्थ आश्रम ३. वानप्रस्थ आश्रम ४. संन्यास आश्रम। इन चारों आश्रमों में से गृहस्थाश्रम को घोर माना गया है। निस्संदेह गृहस्थ-जीवन चलाना कोई सहज-सरल काम नहीं है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि शादी हो जाने के पश्चात व्यक्ति दुःख की ज्वाला में झुलसता रहता है। पुत्र की चिंता, अर्थार्जन की चिंता। और भी न जाने कितनी तरह की चिंताओं से वह घिर जाता है। ऐसा लगता है कि इसी अपेक्षा से इसे घोर कह दिया गया है।

जैन-धर्म में श्रेष्ठता का पैमाना

किंतु घोर कह देने मात्र से यह श्रेष्ठ नहीं हो जाता। श्रमण-संस्कृति और जैन-धर्म में तो संन्यासहसंयमी जीवन को ही श्रेष्ठ माना गया है। वैसे संन्यास-जीवन में भी कठिनाइयां कम नहीं हैं, किंतु वे गृहस्थ-जीवन की कठिनाइयों से भिन्न हैं। मूलतः श्रमण-संस्कृति और जैन-धर्म में श्रेष्ठता का पैमाना या आधार संयम रहा है। चूंकि संन्यास-जीवन पूर्ण संयम का जीवन

है, अतः उसे गृहस्थ-जीवन की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। नमि इंद्र से कहते हैं

मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेण तु भुंजए।
न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं।।

ह कोई बाल (गृहस्थ) मास-मास की तपस्या के अनंतर कुश की नोक पर टिके उतना-सा आहार करे तो भी वह सुआख्यात-धर्महचारित्र-धर्म की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं होता।

गार्हस्थ्य से मुनि-जीवन बहुत ऊंचा है

नमि राजर्षि ने इंद्र से कहाह 'आप गार्हस्थ्य को संन्यास-जीवनहसंयमी जीवन से श्रेष्ठ बताते हुए इसी में रहकर धर्माराधना करने के लिए मुझे प्रेरित कर रहे हैं। किंतु मैं आपकी यह बात नहीं मान सकता। गृहस्थ भले कितनी भी धर्माराधना क्यों न करे, वह पूर्ण संयम (सर्वसावद्य की विरति) के साधक मुनि की तुलना में बहुत पीछे रह जाता है। कोई गृहस्थ मास-मास की तपस्या करता है और पारणे में मात्र कुश की नोक पर टिके उतना आहार लेता है, फिर भी वह मुनि के संयमरूपी चंद्र-मंडल की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं होता। इससे आप संयमहचारित्र-धर्म की श्रेष्ठता का अंकन कर सकते हैं। मूलतः एक धर्मार्थी की धर्माराधना का आधार घोर नहीं है। उसके अनुष्ठान या आराधना के उपयुक्त हैहसुआख्यात धर्महचारित्र-धर्म। दूसरे शब्दों मेंहसर्वसावद्यविरति अर्थात् पूर्ण संयम। यहां घोर और अघोर की बात सर्वथा गौण है। यह घोर हो तो भी उसके लिए आराधनीय है और अघोर हो तो भी। इसलिए सुआख्यात-धर्महसंयम की श्रेष्ठता समझते हुए मैंने इसकी आराधना करने का निश्चय किया है। गार्हस्थ्य में रहना अब मुझे स्वीकार्य नहीं है।'

क्या गार्हस्थ्य सर्वथा गर्हणीय है

नमि राजर्षि ने संयम-जीवन को श्रेष्ठ बताया, इसका यह अर्थ नहीं कि गार्हस्थ्य सर्वथा गर्हणीय है। तत्त्वतः हमारा हर कथन सापेक्ष होता है। यह कथन भी सापेक्ष है। अतः इस कथन के पीछे रही अपेक्षा को सामने रखकर ही इसे समझना चाहिए। तभी इसे सही ढंग से समझा जा सकेगा। आप देखें, जैन-धर्म में श्रावकों (गृहस्थों) को भी आदरपूर्ण स्थान दिया गया है। संयमी साधु-साध्वियों के लिए उन्हें उपष्टम्भ कहा गया है। आप जानते हैं कि सव्वं से जाइयं होई, नत्थि किंचि अजाइयंहएक साधु को सब-कुछ

याचित मिलता है, अयाचित उसके पास कुछ भी नहीं होता। हालांकि गृहत्यागी की जीवन-चर्या ऐसी है कि उसमें उसे भोजन, वस्त्र, पात्र, स्थान आदि थोड़ी-सी चीजों की अपेक्षा रहती है, तथापि उनमें से कोई एक भी वस्तु बिना याचना के उसे प्राप्त नहीं होती। इस परिप्रेक्ष्य में वे (गृहस्थ श्रावक) साधु-साध्वियों के संयम-पालन में निकट के सहयोगी होते हैं। पर यह गौण बात है। उन्हें आदरपूर्ण स्थान मिलने का मुख्य कारण हैहउनकी आंशिक संयमाराधना। यह ठीक है कि एक गृहस्थ कभी पूर्ण संयम की आराधना नहीं कर सकता, पर आंशिक संयम की आराधना का द्वार उसके लिए भी सदा खुला है। श्रावक को संयमासंयमी या व्रताव्रती कहा गया है। यानी उसके जीवन में असंयम है तो संयम भी है, अव्रत है तो व्रत भी है। अब समझने की बात यह है कि उसे जो आदरपूर्ण स्थान मिला है, वह संयम और व्रत की आराधना की अपेक्षा से मिला है, असंयम और अव्रत के कारण नहीं। यह तो उसके जीवन की खुलावट है, जो प्रशस्य नहीं है।

गृहस्थावस्था में मुक्ति : एक विमर्श

अब प्रश्न किया जा सकता हैह'क्या गृहस्थावस्था में व्यक्ति की मुक्ति नहीं हो सकती?' नहीं हो सकती, ऐसा मैं नहीं कहता। सिद्धांततः इसमें कोई कठिनाई नहीं है। सिद्ध के पंद्रह प्रकारों में एक प्रकार हैहगृहस्थलिंगसिद्ध। यानी गृहस्थवेश में सिद्ध। पर इस संदर्भ में इतना स्पष्ट कर दूं कि यह एक विशेष स्थिति है। आपवादिक रूप में ही ऐसे उदाहरण मिलते हैं। फिर एक बात और समझने की है कि भले व्यक्ति का वेश गृहस्थ का हो, पर उसके अंतर भावों में असंदिग्ध रूप में साधुत्व आ जाता है, वह संयमी बन जाता है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ का गुणस्थान चौथा होता है और श्रावक का पांचवां। भावों की अंतर्यात्रा करते हुए वह सातवें-छठे गुणस्थानों का स्पर्श करता है। फिर क्षपकश्रेणी लेता हुआ क्रमशः आगे बढ़ता है और दसवें गुणस्थान में पहुंचता है। वहां से आगे बढ़ते समय वह ग्यारहवां गुणस्थान लांघकर सीधे बारहवें गुणस्थान में पहुंच जाता है। इस गुणस्थान में मोहकर्म क्षीण हो जाता है। फिर अगले ही समय में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतरायह्वये तीनों कर्म टूट जाते हैं और वह केवलज्ञान को उपलब्ध हो जाता है। यह तेरहवें गुणस्थान की स्थिति है। फिर अंतिम चवदहवें गुणस्थान में पूर्ण अयोग अवस्था को प्राप्त कर लेता है और अवशिष्ट चारों कर्मोह्वेदनीय, आयुष्य, नाम व गोत्र का क्षय कर सीधे सिद्ध-शिला पर पहुंच जाता है; सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन जाता है। यहां

खास ध्यान देने की बात यह है कि गृहस्थ की सारी भूमिकाएं पांचवें गुणस्थान तक समाप्त हो जाती हैं। छोटे से चवदहवें तक के सभी गुणस्थान मुनि यानी पूर्ण संयमी की विभिन्न भूमिकाओं के हैं। दूसरी बातहभाव-शुद्धि या आध्यात्मिक विकास की अंतर्यात्रा इतनी सूक्ष्म है कि कोई विशिष्ट ज्ञानी या अतीन्द्रिय ज्ञानी ही इसे जान सकता है, पहचान सकता है। सामान्य व्यक्ति के ज्ञान का यह विषय नहीं है।

जैसा कि मैंने बताया, गृहस्थावस्था में मुक्ति मिलना एक विशेष स्थिति है, सामान्य स्थिति नहीं। सामान्यतः तो मुक्ति के लिए व्यक्ति को संन्यास का जीवन स्वीकार करना आवश्यक है, संयम और चारित्र की आराधना करना जरूरी है। उसे साधु-चर्या का पालन करते हुए क्षुधा, पिपासा, शीत आदि विभिन्न परीषह सहन करने होते हैं, अनेक प्रकार के अभाव का जीवन जीना होता है। किंतु इसके बावजूद वह अनिर्वचनीय सुख, शांति और निश्चिंतता का जीवन जीता है। अनिर्वचनीय इस दृष्टि से कि ऐसा सुख, ऐसी शांति और ऐसी निश्चिंतता उसने भौतिकता के साम्राज्य और सब प्रकार की सुख-सुविधाओं में भी कभी अनुभव नहीं की।

अहो सुखम्

एक राजा था। संसार से विरक्त होकर वह गौतम बुद्ध के पास आया और दीक्षा स्वीकार कर भिक्षु बन गया। जैसे-जैसे वह साधना की गहराई में पहुंचा, उसके आनंद की अनुभूति बढ़ती गई। इस कारण जब-तब उसके मुंह से अनायास ही **अहो सुखम्, अहो सुखम्** की ध्वनि निकलती। दूसरे-दूसरे भिक्षुओं ने एक-दो दिन तो इस बात को गंभीरता से नहीं लिया, किंतु उसके बाद भी जब उसका यह क्रम चलता रहा, तब उन्होंने सोचा कि यह राजा भिक्षु तो अवश्य बन गया है, पर लगता है कि इसे अभी तक राजकीय सुखों की विस्मृति नहीं हुई है। इसी के चलते यह खाते-पीते, उठते-बैठते **अहो सुखम्, अहो सुखम्** करता है। यह बात गौतम बुद्ध के पास पहुंची। बुद्ध ने उस राजभिक्षु को अपने पास बुलाया और पूछाह'बार-बार **अहो सुखम्, अहो सुखम्** बोलने का क्या कारण है? कहीं तुम्हें राजा की अवस्था में भोगे हुए भौतिक सुख तो याद नहीं आ रहे हैं?' राजभिक्षु ने उत्तर दियाह'भंते! नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। मूल बात यह है कि मैं राजप्रासाद में स्वादिष्ट-सरस भोजन करता, पर मेरे मन में यह आशंका बनी ही रहती कि कहीं किसी ने जहर तो नहीं मिला दिया। मैं फूल-सी कोमल मखमली

शय्या पर सोता, फिर भी मुझे निश्चिंतता की नींद नहीं आती, क्योंकि मुझे यह आशंका सताती रहती कि कहीं कोई दुश्मन अवसर देखकर मुझ पर आक्रमण न कर दे।.....किंतु अब भिक्षु बन जाने के बाद मैं इतना निश्चिंत और सुखी हो गया हूं कि कुछ भी बता नहीं सकता। यद्यपि अब मैं अस्वादिष्ट और रूखा-सूखा भोजन करता हूं, जमीन पर सोता हूं, तथापि इस संयममय जीवन में मुझे जो आनंद की अनुभूति होती है, वह राजसी ठाठ-बाट और सुविधाओं में कभी नहीं हुई। इसलिए मेरे मुंह से सहज ही **अहो सुखम्, अहो सुखम्** की ध्वनि निकलती रहती है।'

राज-भिक्षु का यह उत्तर सुन बुद्ध के सभी भिक्षुओं की आशंका निर्मूल हो गई।

प्रवचन के प्रारंभ में मैंने प्रेय और श्रेय की बात कही थी। संसार के भौतिक सुख प्रेय हैं, श्रेय नहीं। यद्यपि अत्यंत कठिन होने के कारण संयम की आराधना लोगों को रुचिकर नहीं लगती, तथापि श्रेय है। चूंकि नमि राजर्षि श्रेय की प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प के साथ उठ खड़े हुए थे, अतः उनकी परीक्षा करने आए इंद्र की यह बात उन्हें स्वीकार्य नहीं हुई कि आपको गृहस्थाश्रम में रहकर ही धर्मारोधना करनी चाहिए।

बेंगलुरु

२० अगस्त १९६९

१४ : इच्छा का अनंत संसार

नमि राजर्षि संसार से विरक्त हो गए। उन्होंने मुनि बनने के निश्चय के साथ राजभवन का परित्याग कर दिया। वे जंगल में आ गए। उनके वैराग्य की परीक्षा करने के लिए देवराज इंद्र ब्राह्मण के वेश में वहां समुपस्थित हुआ। उनके पारस्परिक संवाद की कुछ बातें आपने सुनीं। अब आगे सुनें।

इंद्र ने नमि राजर्षि से कहाह

हिरण्यं सुवर्णं मणिमुत्तं, कंसं दूंसं च वाहणं ।
कोसं वड्ढावइत्ताणं, तओ गच्छसि खत्तिया ॥

हू हे क्षत्रिय! अभी तुम रजत, स्वर्ण, मणियों, मुक्ताओं, कांसे के बर्तनों, वस्त्रों, वाहनों और कोष की वृद्धि करो। इसके बाद मुनि बन जाना।

पेट भर सकता है, पेटी नहीं

नमि राजर्षि ने इंद्र की यह बात अच्छे ढंग से सुनी अवश्य, पर उनके गले बिलकुल नहीं उतरी। बात ठीक भी है। एक मोक्षाभिमुख बने व्यक्ति को यह बात जच भी नहीं सकती। मूलतः धन-वैभव का संग्रह करने की इच्छा-लालसा ही कुछ ऐसी है कि इसका पूरा होना कभी संभव नहीं। केवल अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति ही संभव है। पेट तो भर सकता है, पर पेटी कदापि नहीं। अखंड बर्तन तो पानी आदि से भरा जा सकता है, किंतु यदि कोई व्यक्ति ऐसे किसी घड़े या अन्य बर्तन को भरने का प्रयास करे, जिसका पेंदा फूटा हुआ है, तो वह अपने इस प्रयास में कभी सफल नहीं हो सकता। इच्छा-लालसा पेंदे से फूटे हुए बर्तन के समान है। पर जो लोभी मनुष्य होता है, वह धन-वैभव के प्रति इतना आसक्त बन जाता है कि वह इस सचाई को जानते हुए भी नहीं जान पाता। किंतु नमि राजर्षि इस सचाई को बहुत अच्छे ढंग से समझ रहे थे, अतः उन्होंने इंद्र से कहाह

- सुवर्णरूपस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुब्धस्स न तेहिं किंचि,
इच्छा उ आगाससमा अणंतिया ॥
- पुढवी साली जवा चव, हिरणं पसुभिस्सह ।
पडिपुणं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥

ह कैलास के तुल्य सोने और चांदी के कदाचित असंख्य पर्वत भी हो जाएं, तो भी लुब्ध मनुष्य को उनसे कुछ भी नहीं होता, क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनंत है।

ह पृथ्वी, चावल, जौ, सोना और पशुह्वये सारे एक की इच्छा पूरी करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। ऐसा जानकर व्यक्ति तप का आचरण करे।

नमि राजर्षि ने इंद्र के समक्ष अपना मंतव्य बहुत स्पष्ट शब्दों में रखा। उन्होंने कहा 'आप मुझे स्वर्ण, रजत, मणियों, मुक्ताओं आदि का अधिक-से-अधिक संग्रह करने की प्रेरणा दे रहे हैं, राजकोष को और अधिक समृद्ध बनाने के लिए अभिप्रेरित कर रहे हैं, पर मेरा मन ऐसा कुछ भी करने को तैयार नहीं है।

इच्छा उ आगाससमा अणंतिया

मैंने स्वर्ण, रजत आदि के रूप में धन का खूब संग्रह किया, राजकोष को खूब समृद्ध बनाया। पर इससे मुझे तनिक भी तृप्ति नहीं मिली, बल्कि जैसे-जैसे संग्रह बढ़ता गया, राजकोष समृद्ध होता गया, वैसे-वैसे मेरी अतृप्ति और अधिक बढ़ती गई। मैं अत्यंत तीव्रता के साथ इस बात का अनुभव करता हूं कि व्यक्ति जितना अधिक संग्रह में प्रवृत्त होता है, उसकी लालसा उतनी ही अधिक बढ़ जाती है। वह उसमें लुब्ध हो जाता है, उसके पीछे पागल-सा बन जाता है। बहुत विचित्र बन जाती है उसकी स्थिति। उसके समक्ष कदाचित कैलास पर्वत जितने स्वर्ण, रजत आदि के सैकड़ों पर्वत भी खड़े हो जाएं, तो भी उसका मन जरा भी भरता नहीं। कहना चाहिए कि वे उसके लिए अकिंचित्कर होते हैं। इतना ही क्यों, इनके साथ ही पृथ्वी का बहुत बड़ा भाग उसके आधिपत्य में आ जाए; चावल, जौ आदि धान्यों का विपुल भंडार हो जाए तो भी उसकी अतृप्ति नहीं मिटती, संग्रह की लालसा किंचित भी नहीं घटती। इसका कारण भी अब मेरे से अस्पष्ट नहीं है। संसार

का क्षेत्र सीमित है, पदार्थ ससीम हैं, किंतु इच्छा-लालसा का संसार अनंत है। यदि आकाश का कहीं अंत आए तो उसका कोई अंत संभव है। व्यक्ति की एक इच्छा-आकांक्षा पूरी होती है और उसके साथ ही दूसरी इच्छा-आकांक्षा मन में पैदा हो जाती है। उसके फलस्वरूप वह अपने मन में अतृप्ति का अनुभव करने लगता है। यह अतृप्ति उसे पुनः संग्रह में प्रवृत्त करती है। पर जैसे ही उसकी यह इच्छा पूरी होती है, फिर कोई नई इच्छा पैदा हो जाती है और यह सिलसिला आगे-से-आगे चलता रहता है, कहीं जाकर पूरा नहीं होता। यह स्थिति उसके मन में भयंकर अतृप्ति पैदा का देती है, जिसके चलते सब-कुछ पास होते हुए भी वह दुःख का वेदन करता है। आप देखें, संसार में एक-से-एक बढ़कर धनी और अधिकारसंपन्न व्यक्ति हुए हैं, पर धन-वैभव और अधिकारसंपन्नता ने उन्हें कभी तृप्ति नहीं दी, संतुष्टि नहीं दी। उनकी इच्छाएं भी अधूरी रह गईं। यदि कोई सुखी बना है तो इच्छाओं का निरोध करके ही बना है, असंग्रह और अपरिग्रह के पथ पर अग्रसर होकर ही बना है, संयम और तप की आराधना करके ही बना है। मैंने दुःख का बहुत वेदन किया है, पर अब नहीं करना चाहता, बिलकुल नहीं करना चाहता, अतः मैंने असंग्रह और अपरिग्रह का मार्ग स्वीकार करने का निश्चय किया है; त्याग, तप और संयम की आराधना का जीवन जीने का निर्णय किया है।'

मध्यम मार्ग

नमि राजर्षि ने जो बात कही, वह आत्मधर्म अथवा अध्यात्म-साधना का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। भौतिकवाद का चिंतन इसके सर्वथा विपरीत है। अमेरिका आदि पश्चिमी राष्ट्रों में, जहां भौतिकवाद अत्यधिक प्रभावी है, यह विचार बहुत तेजी के साथ आगे बढ़ रहा है कि इच्छाएं और आवश्यकताएं बढ़ाओ, क्योंकि आवश्यकता आविष्कार की जननी है। मतलब कि जितनी-जितनी आवश्यकताएं बढ़ेंगी, उतने-उतने नए-नए उद्योग विकसित होंगे, नए-नए कारखाने खुलेंगे। इससे राष्ट्र में लाखों व्यक्तियों को रोजगार मिलेगा, उत्पादन बढ़ेगा। इसके फलस्वरूप राष्ट्र में समृद्धि आएगी।

दोनों विचारधाराओं में परस्पर सामंजस्य नहीं दिखाई देता, बल्कि यह कहना ज्यादा सार्थक होगा कि दोनों विचारधाराएं एक-दूसरे के विपरीत परिलक्षित होती हैं। इसके सामंजस्य का सूत्र मध्यम मार्गहयानी

आवश्यकताओं का अल्पीकरण है। भगवान महावीर ने श्रावक को अल्पेच्छु, अल्पारंभी और अल्पपरिग्रही बनने का उपदेश दिया। पर आवश्यकताओं के अल्पीकरण की यह बात उसी व्यक्ति के जीवन में व्यवहारगत हो सकेगी, जिसका कषाय मंद है, लोभ उपशांत है।

बेंगलुरु

२१ अगस्त १९६९

१५ : भोग-पराङ्मुखता

संसार से विरक्त होकर दीक्षित होने के लिए समुद्यत नमि राजर्षि और देवराज इंद्र का पारस्परिक संवाद हो रहा है। इंद्र ने नमि के वैराग्य की परीक्षा करने के उद्देश्य से कहाह

अच्छेरगमब्भुदए, भोए चयसि पत्थिवा!
असंते कामे पत्थेसि, संकप्पेण विहन्नसि॥

हू हे पार्थिव! मुझे आश्चर्य है कि इस अभ्युदय-काल में तुम सहज प्राप्त भोगों का परित्याग कर अप्राप्त भोगों की आकांक्षा कर रहे हो। इस प्रकार तुम अपने संकल्प से ही प्रताड़ित हो रहे हो।

इंद्र ने नमि से कहाह 'आप दीक्षित होने के लिए संकल्पित हैं। साधु-जीवन की अत्यंत कष्टपूर्ण चर्या स्वीकार करने के लिए कटिबद्ध हैं। यह किसलिए? इसीलिए तो कि आप अप्राप्त काम-भोग पाना चाहते हैं। आप जरा गंभीरतापूर्वक सोचें कि आपका यह निर्णय कितना उचित है, कितना विवेकपूर्ण है। मुझे तो ऐसा लगता है कि किसी घटना-विशेष से प्रभावित होकर आपने अत्यंत भावुकता में यह निर्णय किया है। मुझे आश्चर्य होता है कि आप अपने अभ्युदयकाल में प्राप्त भोगों को उन अप्राप्त भोगों की प्राप्ति के लालसा में छोड़ रहे हैं, जिन्हें कभी देखा नहीं गया, जिनकी यथार्थता का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं। मैं तो इनके प्रति संदिग्ध हूँ ही, संभवतः आप भी असंदिग्ध नहीं हैं। मेरी दृष्टि में तो अनिश्चित संदिग्ध काम-भोगों की आकांक्षा में अपने वर्तमान जीवन के प्राप्त भोग छोड़ना अप्रत्यक्ष रूप में स्वयं को प्रताड़ित करना है। कोई नासमझ व्यक्ति तो कदाचित् ऐसा कर भी सकता है, पर आपसे ऐसी अपेक्षा नहीं की जा सकती। अतः आपको अपने इस निर्णय पर पुनश्चितन करना चाहिए।'

इंद्र की बात सुन नमि राजर्षि ने कहाह

- सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दोग्गइं॥
- अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई।
माया गईपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं॥

ह काम-भोग शल्य हैं, काम-भोग विष हैं, काम-भोग आशीविष सर्प के तुल्य हैं। काम-भोगों की इच्छा करनेवाले, उनका सेवन न करने के बावजूद दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

ह प्राणी क्रोध से अधोगति में जाता है। मान से उसकी अधम गति होती है। माया से सुगति का विनाश होता है। लोभ से ऐहिक और पारलौकिकहृदोनों प्रकार का भय होता है।

काम-भोग का यथार्थ

नमि ने इंद्र से कहाह्व'विप्रवर! आप संयम-जीवन स्वीकार करने के मेरे निर्णय को किसी भावुकता में किया गया निर्णय मानते हैं। अतः इस पर पुनश्चित्तन करने के लिए कह रहे हैं। पर यह वास्तविकता नहीं है। मैंने किंचित भी भावुकता में नहीं, अपितु बहुत सोच-समझकर यह निर्णय किया है। रही बात अप्राप्त काम-भोगों की प्राप्ति के लिए वर्तमान जीवन में प्राप्त भोग टुकराने की। इस संदर्भ में मैं बहुत स्पष्ट शब्दों में आपसे निवेदन करता हूँ कि अप्राप्त काम-भोगों की मैं किंचित भी कामना नहीं करता। दीक्षित होने का मेरा यह मुख्य लक्ष्य तो है ही नहीं, बल्कि गौण लक्ष्य भी नहीं है। इसका कारण भी स्पष्ट है। काम-भोग भले वर्तमान मनुष्य-जीवन के हों अथवा देवलोक के, प्राप्त हों अथवा अप्राप्त, उन्हें मैं शल्य मानता हूँ, विष समझता हूँ, आशीविष सर्प के तुल्य जानता हूँ, जिसकी कि दाढा में विष होता है। उनके भयंकर दुष्परिणामों से भी सुपरिचित हूँ। उनका सेवन करनेवाले की तो दुर्गति होती ही है, बल्कि उनकी आकांक्षा करनेवाला भी दुर्गति को प्राप्त होता है।

क्रोधादि के घातक परिणाम

मैं इस सचाई से भी परिचित हूँ कि जो व्यक्ति कामनाओं का वशवर्ती होता हैह्वप्राप्त काम-भोगों में गृध्र बनता है तथा अप्राप्त काम भोगों की निरंतर आकांक्षा करता है, वह क्रोध, मान, माया और लोभ से भी अनिवार्य रूप से प्रताड़ित होता है। इन चारों के घातक परिणामों से कौन अपरिचित है? क्रोध से व्यक्ति के लिए नरक का द्वार खुल जाता है। अहंकार भी कम

घातक नहीं है। इसके कारण व्यक्ति अधम गति को प्राप्त होता है। माया तिर्यच गति का हेतु बनती है। लोभ की बात तो बहुत ही स्पष्ट है। इसे सब पापों का मूल कहा गया है, सर्वविनाशी माना गया है। इससे ग्रस्त व्यक्ति का न तो वर्तमान जीवन स्वस्थ और सुखी होता है और न परभव ही। यह इहलौकिक और पारलौकिक दुःख का मुख्य हेतु है। ऐसी स्थिति में मैं कैसे तो प्राप्त भोगों का सेवन कर सकता हूँ और कैसे अनागत अथवा अप्राप्त भोगों की किंचित भी आकांक्षा कर सकता हूँ? इसलिए मुझे दीक्षित होने के अपने निर्णय पर पुनश्चितन करने की कोई अपेक्षा महसूस नहीं होती। तब आप मेरे दीक्षित होने के लक्ष्य के बारे में पूछ सकते हैं। मेरा लक्ष्य बिलकुल स्पष्ट हैहअपने आत्मस्वरूप को उपलब्ध होना, संसार की अनंतकालीन दुःखमय परंपरा से मुक्त होना।’

नमि राजर्षि का दृष्टिकोण

इंद्र ने अप्राप्त स्वर्गीय सुखों की आकांक्षा से प्राप्त वर्तमान जीवन के भोग छोड़कर दीक्षित होने की जो बात नमि राजर्षि से कही, वह एक अपेक्षा से अयथार्थ नहीं है। आप धार्मिक लोगों की मनोभावना पढ़ें। आप देखेंगे कि अधिकतर लोग धार्मिक क्रियाएं इसलिए करते हैं, ताकि उन्हें स्वर्ग मिले, उनका परलोक सुखी बने। किंतु नमि राजर्षि का दृष्टिकोण इससे बिलकुल भिन्न था। वे तो एकमात्र आत्म-शुद्धि और संसार-मुक्ति के लिए दीक्षित बन रहे थे। देवलोक के काम-भोगों की उन्हें किंचित भी वांछा नहीं थी। काम-भोगों को कटु-परिणामी समझते हुए उन्होंने उन्हें सर्वथा हेय माना था, क्योंकि वे अध्यात्म की ऊंची भूमिका पर पहुंच चुके थे।

जन-सामान्य की सोच

लेकिन संसार की स्थिति से हम अपरिचित नहीं हैं। यहां अध्यात्म की ऊंची भूमिका पर कोई-कोई व्यक्ति ही पहुंच पाता है। प्रायः लोग सामान्य भूमिका का जीवन जीते हैं। उन्हें काम-भोगों को शल्य, विष और आशीविष सर्प के तुल्य मानने की बात समझ में नहीं आ सकती। वे इस भाषा में सोच सकते हैं कि नमि राजर्षि ने यह कैसी बेतुकी बात कह दी! सारा संसार तो कामवासना में आनंद का अनुभव कर रहा है। लगता है, यह उनका कोई मानसिक द्वंद्व था। वैसे लोगों का ऐसा सोचना अस्वाभाविक भी नहीं माना जा सकता। अनुस्रोतगामी व्यक्ति प्रतिस्रोतगामिता का आनंद कैसे अनुभव कर सकता है? शराबी व्यक्ति को शराब में गंध कैसे आ सकती है?

मांसभक्षी को मांस से ग्लानि कैसे हो सकती है ?

भोग-विरक्ति का आनंद

अब हम वास्तविकता समझें। भोग-विरक्ति का आनंद वही व्यक्ति जान सकता है, अनुभव कर सकता है, जिसने उसका आस्वादन किया है। पर हमारी एक बड़ी कठिनाई यह भी है कि उस आंतरिक आनंदानुभूति को शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता।

दो घनिष्ठ मित्र थे। उन्होंने परस्पर वादा कर लिया कि हममें से जो पहले स्वर्ग जाएगा, वह पुनः धरती पर आकर अपने मित्र को वहां के सुख के बारे में बताएगा। कालांतर में उनमें से एक मरकर स्वर्ग गया। वहां पहुंचने के बाद जैसे ही उसे अपने किए गए वादे की स्मृति हुई, वह अपने मित्र को स्वर्गीय सुखों के बारे में बताने के लिए तत्काल मनुष्य-लोक में आया और अपने मित्र के पास पहुंचा। मित्र ने भी उसे तत्काल पहचान लिया और बड़ी आतुरता के साथ पूछा 'स्वर्ग कैसा है? स्वर्गीय सुख कैसे हैं?' मित्र अपना वादा निभाने के लिए धरती पर आ तो अवश्य गया, किंतु उसके समक्ष कठिनाई यह खड़ी हो गई कि वह स्वर्ग में भोगे सुखों के बारे में बताए कैसे। वह तो अनुभूति के स्तर की बात थी। शब्दों के माध्यम से उसे व्यक्त करना संभव नहीं था। ऐसी स्थिति ने उसने बड़ी संजीदगी के साथ कहा 'भाई! जिस स्वर्ग को मैंने मरकर पाया, उसे तुम जीते-जी नहीं जान सकते। जिन स्वर्गीय सुखों के संदर्भ में तुम जानना चाहते हो, वह अनुभव के स्तर की बात है। शब्दों के माध्यम न तो उनके संदर्भ में मैं कुछ भी बता सकता हूं और न तुम कुछ भी समझ ही सकते हो।'

यही बात आपसे मैं कह रहा था। भोग-विरक्ति या भोग-पराङ्मुखता की उस आंतरिक आनंदानुभूति की बात शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त नहीं की जा सकती। यदि मैं बताने का प्रयास भी करूं तो उसकी कोई सार्थकता सिद्ध होती नजर नहीं आती, क्योंकि आप लोग समझ नहीं पाएंगे। इस संदर्भ में तर्क किया जा सकता है कि जिन्होंने कभी भोगों का आस्वादन किया ही नहीं, उन्हें क्या पता भोग कैसे हैं, उनके आसेवन का आनंद कैसा है। इस तर्क के समाधानरूप में मैं यह कहना चाहता हूं कि मैंने अनेकानेक ऐसे भुक्तभोगियों को देखा है, जिनके यौवन की कांति समाप्त हो गई है, जिनके जबड़े चिपक-से गए हैं, जिनकी चमड़ी पर असमय में झुर्रियां-ही-झुर्रियां पड़ गई हैं और जो मानसिक कुंठा से पीड़ित हैं। इस आधार पर मैं कह सकता

हूँ कि भोग का क्षणिक आनंद ठीक वैसा ही है, जैसा खुजली के रोगी को खुजलाने से मिलता है। लेकिन इसके साथ ही उसकी अतृप्ति और अधिक बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में इस आनंद को वास्तविक आनंद नहीं माना जा सकता।

संसार कैसे चलेगा!

कुछ लोगों का कथन है 'यदि संसार के सभी लोग भोग से उपरत होकर संन्यासी बन जाएंगे तो यह संसार कैसे चलेगा?' इस प्रकार का प्रश्न करनेवालों से मैं प्रतिप्रश्न करना चाहता हूँ 'क्या सृष्टि चलाने के लिए ही आप भोग भोगते हैं?' उन्हें खयाल रहना चाहिए कि यह सृष्टि अनादि-अनंत है। यह सदा थी और सदा रहेगी। इस स्थिति में उन्हें इसके चलने का फिक्र करने की जरा भी अपेक्षा नहीं। वे तो अपनी बात सोचें। वे स्वयं भोगों से उपरत हो सकते हैं या नहीं? मूलतः मनुष्य की यह एक बड़ी मानसिक दुर्बलता है कि वह अपनी कमजोरी छुपाने का कोई-न-कोई बहाना ढूँढ़ता रहता है। जो लोग अपनी दुर्बलता के चलते भोगों से उपरत होने की स्थिति में नहीं होते, उनमें से ही कुछ लोग इस प्रकार का प्रश्न करते हैं। ऐसा कर वे अप्रत्यक्ष रूप से भोगों से उपरत न हो सकने की अपनी दुर्बलता पर परदा डालने का प्रयास करते हैं। यह उचित नहीं है। पर नमि राजर्षि इस कोटि के व्यक्ति नहीं थे। उनमें आत्म-साहस था। उसका विस्फोट करते हुए उन्होंने एक झटके में ही भोगों से सर्वथा मुंह मोड़ लिया था और संयम-जीवन स्वीकार करने के लिए वे राजप्रासाद का परित्याग कर वन में आ गए थे।

बेंगलुरु

२२ अगस्त १९६९

१६ : नमि का गुणोत्कीर्तन

संसार से विरक्त होकर दीक्षित होने के लिए तैयार नमि राजर्षि के वैराग्य की इंद्र ने भरपूर परीक्षा की। स्वयं को अज्ञात रखने के लिए वह ब्राह्मण के वेश में उनके सम्मुख समुपस्थित हुआ था। लेकिन जब परीक्षा पूरी हो गई और नमि उसकी परीक्षा में असंदिग्ध रूप में उत्तीर्ण हुए, तब वह ब्राह्मण का वेश छोड़कर अपने मूल रूप में प्रकट हो गया और अत्यंत विनम्रतापूर्वक वंदना कर उनकी स्तवना करने लगाह

- अहो! ते निज्जिओ कोहो, अहो! ते माणो पराजिओ।
अहो! ते निरक्किया माया, अहो! ते लोभो वसीकओ॥
- अहो! ते अज्जवं साहु, अहो! ते साहु मद्दवं।
अहो! ते उत्तमा खंती, अहो! ते मुत्ति उत्तमा॥
- इहं सि उत्तमो भंते! पेच्चा होहिसि उत्तमो।
लोगुत्तमुत्तमं ठाणं, सिद्धिं गच्छसि नीरओ॥

हू हे राजर्षि! आश्चर्य है कि तुमने क्रोध पर विजय प्राप्त की है। आश्चर्य है कि तुमने मान को परास्त किया है। आश्चर्य है कि तुमने माया को दूर हटाया है। आश्चर्य है कि तुमने लोभ को वशीभूत बनाया है।

हू अहो! उत्तम है तुम्हारा आर्जव। अहो! उत्तम है तुम्हारा मार्दव।
अहो! उत्तम है तुम्हारी क्षमा। अहो! उत्तम है तुम्हारी निलोभता।

हू भंते! तुम इस लोक में भी उत्तम हो और परलोक में भी उत्तम होओगे। तुम कर्म-रजों से सर्वथा मुक्त होकर लोक के सर्वोत्तम स्थान (मोक्ष) को प्राप्त करोगे।

इंद्र नमि राजर्षि की संसार-विरक्ति की परीक्षा लेकर उनके आंतरिक व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुआ। अत्यंत गरिमामय शब्दों में उनका गुणानुवाद करते हुए वह बोलाह 'नराधिप! मैंने आपकी विरक्ति की थाह लेने

के लक्ष्य से आपसे अनेक असंगत, अयथार्थ और टेढ़ी-मेढ़ी बातें कहीं। किंतु अद्भुत है आपका कषाय-उपशमन। विलक्षण है आपकी क्षांति, असाधारण है आपकी मुक्ति, उत्कृष्ट है आपका आर्जव, प्रशस्त है आपका मार्दव। इसी कारण एक क्षण के लिए भी आपके चेहरे पर रोष-आक्रोश की एक हलकी-सी रेखा भी नहीं उभरी। आपके शब्दों में कहीं लेश मात्र भी अहं के दर्शन नहीं हुए। आपके व्यवहार में दंभ, वक्रता और लोभ की छाया भी नजर नहीं आई। सचमुच प्रशस्य, प्रेरक और अनुकरणीय है आपकी साधना। विस्मयकारी है आपकी भोग-पराङ्मुखता। आश्चर्यकारी है आपकी संसार से विरक्ति। चकित करनेवाली है आपकी अनासक्ति। अचंभित करनेवाली है आपकी निर्मोहता। अद्भुत है आपका आत्म-साहस। अभिलषणीय है आपकी मानसिक दृढ़ता। परम श्रेयस्कर है संयम-जीवन स्वीकार करने का आपका संकल्प। अविश्वसनीय है आपका अभिनिष्क्रमण। पार्थिव! आप वर्तमान-जीवन में भी निस्संदेह रूप से उत्तम हैं और परलोक में भी असंदिग्ध रूप में उत्तम बनेंगे। आप तप-संयम की अपनी कठिन साधना के द्वारा सर्व कर्मों का क्षय करेंगे, आत्मा की परम पवित्र अवस्था को प्राप्त करेंगे और जन्म-मरण की अनंतकालीन शृंखला तोड़कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बनेंगे। लोक के सर्वोत्तम स्थानहसिद्धशिलाहमोक्ष में जाकर विराजमान बन जाएंगे।'

इस प्रकार नमि राजर्षि का भावपूर्ण गुणोत्कीर्तन करने के पश्चात् इंद्र ने पुनः भक्तियुक्त वंदन-नमस्कार किया और वहां से प्रस्थित हो गया। उसके प्रस्थान कर जाने के बाद अपने संकल्प के अनुरूप नमि प्रव्रजित हो गए और उन्होंने स्वयं को संयम की साधना के लिए समर्पित कर दिया।

राजधर्म और आत्मधर्म के विविध पहलुओं और दोनों की भिन्नता को व्याख्यायित करनेवाला यह एक सुंदर उदाहरण है।

साधक का आत्म-धर्म

यहां खास ध्यान देने की बात यह है कि साधक के समक्ष भले अनुकूल परिस्थिति हो और भले प्रतिकूल; भले कोई उसकी प्रशस्ति करे, गुणगान करे और भले कोई निंदा-आलोचना करे, गालियां बोले, उसे समता भाव में अवस्थित रहना चाहिए, अपना मानसिक संतुलन बनाए रखना चाहिए। उसे किसी भी स्थिति में खंडित नहीं होने देना चाहिए। नमि राजर्षि ने यह आदर्श उपस्थित किया था। चाहे देवराज इंद्र ने उनके मानसिक

संकल्प और निर्णय के प्रतिकूल अनेक बातें कहीं, उनके दीक्षित होने के निर्णय को अनुचित बताया और चाहे फिर उनकी साधना और वैराग्य की मुक्तकंठ से प्रशंसा की, उनका गुणोत्कीर्तन किया, उन्हें भावपूर्ण वंदन-नमस्कार किया, उनकी मनःस्थिति एक-सरीखी बनी रही। उन्होंने अपना संतुलन किंचित भी नहीं खोया। न तो आलोचना और प्रतिकूल बातें सुनकर उनके मन में हीनता की अनुभूति हुई, न किसी प्रकार की झुंझलाहट पैदा हुई और न ब्राह्मण (इंद्र) के प्रति किंचित भी नाराजगी एवं रोष-आक्रोश पैदा हुआ तथा न उसके द्वारा भक्तिपूर्ण वंदन-नमस्कार और गुणोत्कीर्णन किए जाने पर वे गर्वोन्मत्त और प्रसन्न हुए। यह समता की साधना हर साधक के लिए वह एक साधु की भूमिका में हो और भले वह एक श्रावक और सामान्य गृहस्थ की भूमिका में अत्यंत आवश्यक है। तभी उसकी साधना में निखार आ सकेगा, वह आत्मोदय की दिशा में आगे बढ़ सकेगा।

बेंगलुरु

२३ अगस्त १९६६

१७ : महावीर क्रांत-द्रष्टा थे

भगवान महावीर का जीवन-दर्शन एक क्रांतिकारी दर्शन है। वे क्रांत-द्रष्टा थे। लोग सोचते हैं कि उन्होंने केवल आत्मा की भूमिका पर काम किया, किंतु सच्चाई यह है कि उन्होंने आत्मा की भूमिका को इतना विस्तार दिया कि सारा समाज-दर्शन उसमें स्वतः समा गया। उनके दर्शन को आज फिर एक नई दृष्टि से समझने की आवश्यकता है।

भगवान महावीर ने दर्शन के क्षेत्र में अनेकांतवाद/स्याद्वाद का सिद्धांत दिया, जिसकी आइंस्टीन ने आधुनिक व्याख्या देकर सारे विज्ञान-जगत को उपकृत किया। भगवान महावीर ने अहिंसा को व्यापक संदर्भ में प्रस्थापित किया। महात्मा गांधी ने उसी का सहारा लेकर युद्ध-रत सारे संसार को शांति पाने की एक नई दिशा दी। भगवान महावीर ने समाज की भूमिका पर समता और समानता का उपदेश दिया। आज का जनतंत्र उसी की क्रियान्विति है। इसी प्रकार महावीर ने अनेक ऐसे तत्त्व दिए, जो एक क्रांतिकारी चिंतन से ही प्रसूत हो सकते हैं। उनके एक-एक चिंतन को लेकर आज की विश्व-व्यवस्था में अनेक नए-नए आयाम स्थापित किए जा सकते हैं।

उनका जीवन व दर्शन किसी परिधि में सिमटा हुआ नहीं है। वह सूर्य से अधिक तेजस्वी, हिमालय से अधिक उन्नत और सागर से अधिक गहरा है। वे विश्व-क्षितिज पर समग्र मानव-जाति के मसीहा बनकर आए थे। अपने व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व से उन्होंने समग्र भारत के जीवन में एक अभिनव मोड़ दिया था। भारत के इतिहास का स्वर्ण-युग तभी से प्रारंभ होता है, जब भगवान महावीर ने जातिवाद, अंधविश्वास, यज्ञ आदि हिंसात्मक क्रियाकांडों, दास-प्रथा तथा धार्मिक प्रभु-सत्ता के विरुद्ध एक क्रांतिकारी आवाज उठाई थी। वैसे उनका लक्ष्य इतना ही नहीं था। उन्होंने अपनी तपःभूत साधना से अनंत-अनंत सत्य उद्घाटित किए थे और सहस्रों वर्षों से चली आ रही श्रमण-संस्कृति का युगानुकूल प्रवर्तन किया था। समस्त भारत व नेपाल की

संस्कृति, परंपरा एवं जन-जीवन भगवान महावीर का बहुत ऋणी है। मैं सोचता हूं, यदि दोनों ही राष्ट्र आनेवाली उनकी पचीसवीं निर्वाण-शताब्दी को राष्ट्रीय महत्त्व दें तो यह उनके गौरव और श्रद्धा के अनुरूप ही होगा। जैन-समाज को तो हर महावीर-जयंती पर एक विशेष प्रेरणा लेकर इस स्वल्प अवधि का महत्त्व आंकना ही चाहिए।

१८ : अनेकांतवाद समन्वयवाद है

गहराई से देखा जाए तो जैन-दर्शन का अनेकांतवाद समन्वयवाद है। वह विश्व के झगड़े मिटाकर मैत्री स्थापित करनेवाला है। संसार में कई द्वैतवादी हैं, तो कई अद्वैतवादी। पर जैन-दर्शन अपेक्षाभेद से दोनों को ठीक मानता है। द्वैत भी ठीक है और अद्वैत भी ठीक है। वह इसमें ही को स्थान नहीं देता। उसके स्थान पर भी प्रयुक्त करता है। इसी बारे में भगवान महावीर का एक जीवन-प्रसंग बता देता हूँ।

भगवान महावीर अपने श्रमण-समुदाय के साथ कथंगला नगरी पधारे। पास ही श्रावस्ती नामक नगरी थी। लोगों का आवागमन बना रहता था। वहाँ एक स्कंदक नामक संन्यासी रहता था। वह प्रकांड विद्वान था। एक दिन पिंगल नामक निर्ग्रंथ रास्ते में उससे मिल गया। उसने उससे कई प्रश्न किए। '१. लोक सांत है या अनंत? २. जीव सांत हैं या अनंत? ३. सिद्धि सांत है या अनंत? ४. वह कौन-सी मौत है, जिससे जन्म-मरण छूटता है?' अच्छा तत्त्वज्ञ होने के बावजूद स्कंदक इन प्रश्नों को उत्तरित नहीं कर सका। उसे मौन देख पिंगल ने पूछा 'प्रश्न तो आपने सुन ही लिए होंगे?' स्कंदक फिर भी चुप रहा। तब पिंगल समझ गया कि इनसे जवाब नहीं दिया जा सकेगा। इसके बावजूद मुझे इनकी इज्जात नहीं लेनी है। इस चिंतन के साथ ही पिंगल अपने रास्ते चला गया। वास्तव में शास्त्रार्थ विचारों के आदान-प्रदान की भावना से किया जाना चाहिए, जय-पराजय की भावना से नहीं।

स्कंदक को रात में नींद नहीं आती, दिन में भोजन अच्छा नहीं लगता। उसके मन में बार-बार यह बात आती कि मेरे लिए यह बहुत लज्जा की बात है कि मैं पिंगल के प्रश्नों का जवाब नहीं दे सका। उसने सारे ग्रंथ टटोले, पर प्रश्नों के जवाब नहीं मिले। आखिर एक दिन उसने सुना कि भगवान महावीर यहीं आए हुए हैं। तब उसके मन में आया कि वे त्रिकालज्ञ

हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान की सारी बातें जानते हैं। अवश्य उनसे मुझे इन प्रश्नों के जवाब मिल जाएंगे।

इधर स्कंदक भगवान महावीर के दर्शन करने के लिए रवाना हुआ और उधर भगवान महावीर ने गणधर गौतम से कहा 'आज तुझसे तेरा पुराना मित्र मिलेगा।' गौतम स्वामी ने पूछा 'पुराना मित्र कौन?' भगवान ने कहा 'स्कंदक।' तब गौतम स्वामी ने जिज्ञासा की 'वह कब, कहां और क्यों मिलेगा?' भगवान ने उत्तर दिया 'यहीं और अभी आ रहा है। उसके मन में अनेक प्रश्न हैं।' गौतम ने उसे भगवान महावीर के दर्शन कराए। पहुंचते ही स्कंदक नतमस्तक हो गया। भगवान ने पिंगल निर्ग्रथ द्वारा उससे किए गए प्रश्नों को उत्तरित करते हुए फरमाया 'लोक सांत भी है, अनंत भी। इसी तरह जीव और सिद्धि भी सांत और अनंत है। जो साधु पूर्व में बंधे कर्म खपाते हुए अनशनपूर्वक मरता है, वह भवभ्रमण मिटाता है, घटाता है। ऐसा मरण पंडित-मरण है।' यह है अनेकांतवाद। मेरी दृष्टि में यह वस्तुतः समन्वयवाद है।

१६ : बाहुबली की प्रतिमा से प्रेरणा लें

श्रवणबेलगोला के इस प्रसिद्ध जैन-तीर्थस्थल पर मुझे अपने पूरे धर्मसंघ की स्मृति हो रही है। मैं यह देखकर प्रसन्न हूँ कि धर्मसंघ के छोटे-बड़े सभी साधु-साध्वियां इसके सर्वांगीण विकास के लिए प्रयत्नशील हैं। मैं जहां दक्षिण भारत के इस ऐतिहासिक क्षेत्र में हूँ, वहां अधिकतर साधु-साध्वियां उत्तर भारत के विभिन्न शहरों और गांवों में धर्म-प्रचार में संलग्न हैं। मातुश्री साध्वी वदनाजी का स्मरण करता हूँ, जो इस समय बीदासर (राजस्थान) में हैं। वे ऋजुमना हैं, प्रकृति से सौम्य हैं। वे तपस्या में रत हैं। मैं जब बीदासर से दक्षिण भारत की सुदीर्घ एवं ऐतिहासिक यात्रा के लिए प्रस्थित हुआ, तब मैंने साध्वीप्रमुखा लाडांजी को उनके पास रखा था। परंतु आज साध्वीप्रमुखा लाडांजी स्वयं मातुश्री साध्वी वदनाजी के लिए चिंता का विषय बन गई हैं। इन दिनों प्राप्त समाचारों के अनुसार वे बहुत अधिक अस्वस्थ हैं। परंतु मुझे यह सुनकर अत्यंत प्रसन्नता होती है कि अत्यधिक अस्वस्थ होने के बावजूद उनका मनोबल ऊंचा है। वे अपना ज्यादातर समय स्वाध्याय में लगाती हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने मातुश्री साध्वी वदनाजी से भी कह दिया है कि मेरे मन में आपके प्रति कोई मोह नहीं है। आपको भी मेरे प्रति मोह नहीं रखना चाहिए। ऐसे विचार सचमुच प्रशंसनीय हैं। यहां का संदेश यदा-कदा किसी के माध्यम से उनके पास पहुंचता है, तब उन्हें परम प्रसन्नता की अनुभूति होती है।

साधना की सफलता का महामंत्र

उपस्थित साधु-साध्वियों से एक बात कहना चाहता हूँ। हम सब साधक हैं। साधना का पथ हमने स्वेच्छा से स्वीकार किया है। सामने खड़ी बाहुबली की विशाल मूर्ति से हमें प्रेरणा लेनी चाहिए। जिस प्रकार यह प्रतिमा धूप, छाया, सर्दी, गरमी, आंधी, तूफान और बरसात में भी अविचल खड़ी है, उसी प्रकार हमें भी अपने साधना-पथ पर अविचल भाव से निरंतर आगे

बढ़ते रहना चाहिए। भले कितनी भी विपरीत परिस्थितियां हमारे समक्ष क्यों न हों, हमारे कदम रुकने नहीं चाहिए। यही हमारी साधना की सफलता का महामंत्र सिद्ध होगा।

श्रवणबेलगोला

१५ मई १९६६

२० : अनशन : एक विमर्श

तप के बारह प्रकार

जैन-धर्म में तप का बहुत महत्त्व है। तप के बारह प्रकार बताए गए हैं १. अनशन २. ऊनोदरी ३. भिक्षाचरी ४. रस-परित्याग ५. काय-क्लेश ६. प्रतिसंलीनता ७. प्रायश्चित्त ८. विनय ९. वैयावृत्य १०. स्वाध्याय ११. ध्यान १२. व्युत्सर्ग।

इनमें से प्रथम छह प्रकार बाह्य तप तथा अंतिम छह प्रकार आभ्यंतर तप कहे गए हैं। तप का मूलभूत उद्देश्य है ह्यआंतरिक उज्ज्वलता अथवा आत्म-पवित्रता। हालांकि बाह्य और आभ्यंतर दोनों ही प्रकार के तप इस दृष्टि से उपयोगी हैं, तथापि तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो हमें मानना होगा कि आभ्यंतर तप ज्यादा उपयोगी हैं। पर इसका कोई यह अर्थ निकालने की गलती न करे कि बाह्य तप के विभिन्न प्रकारों की साधना की अपेक्षा नहीं है। आत्म-शोध की दृष्टि से इनका पूरा महत्त्व है, क्योंकि मोक्षाराधना के ये बहिरंग अंग हैं।

अनशन के दो प्रकार

तप के बारह प्रकारों में से पहला प्रकार है अनशन। अनशन का अर्थ है आहार का परिहार। इसके दो भेद किए गए हैं १. इत्वरिक २. यावत्कथिक। उपवास से लेकर छह मास की तपस्या तक इत्वरिक में समाविष्ट है। आमरण तपस्या को यावत्कथिक अनशन कहा जाता है। इसके तीन प्रकार हैं १. भक्तप्रत्याख्यान २. इंगिनीमरण ३. प्रायोपगमन। ये क्रमशः अधिक कठिन हैं।

संधारा : कब करें, कैसा करें

यावत्कथिक अनशन के लिए हमारे यहां संधारा शब्द व्यापक रूप में प्रचलित है। पूरे जैन-समाज में संधारा करने की परंपरा है। साधु-साध्वियां

तो संथारा करते ही हैं, श्रावक-श्राविकाएं भी संथारा स्वीकार करते हैं। कुछ-कुछ संथारे बहुत प्रभावक भी होते हैं। पर संथारे के संदर्भ में एक बात ध्यान रखने की है। संथारा बहुत सोच-समझकर करना चाहिए। जब तक शरीर में धार्मिक साधना करने की शक्ति विद्यमान हो, तब तक साधना करनी चाहिए। जब शरीर साधना करने के योग्य न रहे, साधना करने की उसकी शक्ति चुकती नजर आए, तब अत्यंत मनोबलपूर्वक संथारा स्वीकार कर लेना चाहिए, समाधिपूर्वक शरीर का व्युत्सर्ग कर देना चाहिए। संथारा भी ऐसा, जिसमें न तो जीने की किंचित भी आकांक्षा और न मृत्यु की कोई चाह। यानी समवृत्ति, माध्यस्थ भाव। **वासीचंदणकप्पो य** की साधनाहभले कोई बसूले से चमड़ी का छेदन-भेदन करे और भले कोई उस पर चंदन का लेप करेहदोनों ही स्थितियों में समभाव रखना। दूसरे शब्दों में कहूं तो बाहरी अनुकूल-प्रतिकूल किसी भी स्थिति से अप्रभावित रहना।

मरने की कला है अनशन

आजकल सम्मोहन विद्या (हिपनाटिज्म) के द्वारा व्यक्ति को एक प्रकार की प्रगाढ़ निद्रा में ले जाया जाता है, अर्धमूर्च्छित-सा बनाया जाता है। उस स्थिति में पहुंचा हुआ व्यक्ति मात्र सम्मोहन करनेवाले व्यक्ति के बाह्य संकेतों के आधार पर ही सारी प्रवृत्तियां करता है, शेष बाह्य जगत से उसका संबंध कट-सा जाता है। साधना के द्वारा भी व्यक्ति ऐसी स्थिति में पहुंच सकता है, जहां पहुंचकर व्यक्ति अनुकूल-प्रतिकूल सभी प्रकार की बाह्य परिस्थितियों से अप्रभावित बना रहता है। दूसरे शब्दों में वह आत्मकेंद्रित बन जाता है, आत्मरमण करने लगता है। इसे हम आत्म-समाधि की अवस्था भी कह सकते हैं। यह साधना कठिन तो अवश्य है, पर असंभव नहीं है। अलबत्ता इसमें तीव्र प्रयत्न की अपेक्षा रहती है। जो व्यक्ति इस भूमिका में पहुंच जाएगा, अंतर्मुखी बन जाएगा, वह अनशनपूर्वक मृत्यु का स्वागत करेगा। एक अपेक्षा से देखा जाए तो संथारा या अनशन मृत्यु की कला है। आचार्य विनोबा भावे कहते हैं कि जीने की कला तो सभी धर्म सिखाते हैं, पर यदि किसी को मृत्यु की कला सीखनी हो तो वह जैन-धर्म से सीखे।

जैन-धर्म में अनशनपूर्वक या संथारापूर्वक मृत्यु को बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। जैसा कि मैंने पूर्व में कहा था, न केवल साधु-साध्वियां,

अपितु श्रावक-श्राविकाएं भी अपने जीवन के अंतिम पड़ाव पर संथारा स्वीकार करते हैं। वैसे सभी लोगों को संथारा आए, यह कोई जरूरी नहीं, क्योंकि बहुत बार मौत एकदम आकस्मिक रूप में आ जाती है। ऐसी स्थिति में संथारा ग्रहण करने का मौका ही नहीं मिलता। बावजूद इसके, हर व्यक्ति संथारा स्वीकार करने की भावना तो रख ही सकता है। श्रावक के तीन मनोरथों में से तीसरा मनोरथ यही है 'कब वह धन्य दिवस आएगा, जब मैं मारणांतिक संलेखनापूर्वक भक्तपान का प्रत्याख्यान करूंगा?'

क्या शरीर को कष्ट देना धर्म है

यह तो हुई यावत्कथिक अनशन की बात। इत्वरिक अनशन (एक दिन के उपवास की तपस्या से प्रारंभ कर छह मास की तपस्या तक की साधना) भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। जैन-धर्मावलंबियों में लंबी-लंबी तपस्या करने की प्रवृत्ति व्यापक रूप में प्रचलित है। और तो क्या, छोटी-छोटी अवस्था के लड़के-लड़कियां भी बड़े उत्साह और आत्मबल के साथ लंबी-लंबी तपस्या करते हैं। जैनों की इस तपस्या को देखकर कुछ लोगों की यह धारणा बनी है कि जैन-धर्म शरीर को कष्ट देना धर्म मानता है। कुछ विद्वान **देहे दुक्खं महाफलं** इस आगम-सूक्त के आधार पर अपनी इस धारणा/मान्यता की पुष्टि करते हैं। मुझे लगता है कि उन लोगों ने इस आगम-सूक्त का अर्थ सम्यक रूप में समझा नहीं है। **देहे दुक्खं महाफलं** का वास्तविक अर्थ है शरीर पर कष्ट आए, दुःख आए, उसे समतापूर्वक सहन करना महान लाभकारी है, विपुल निर्जरा का हेतु है। 'शरीर को कष्ट देने से महान फल होता है' यह अर्थ उसका बिलकुल नहीं है। यह ठीक है कि जब कोई व्यक्ति तप की साधना करता है, तब कर्म-शरीर के साथ-साथ उसका यह औदारिक शरीर भी तपता है। इस स्थिति में उसके शरीर पर कुछ कष्ट भी आ सकता है, पर इस औदारिक शरीर को कष्ट पहुंचाना तप-साधना का कोई लक्ष्य नहीं है और न किसी तप-साधक को अपनी तपस्या का यह लक्ष्य या ध्येय बनाना ही चाहिए। मैं तपस्या करनेवाले भाई-बहनों से कहना चाहता हूं कि उनके समक्ष तपस्या करने का लक्ष्य स्पष्ट रहे, यह नितांत अपेक्षित है। वे एकमात्र कर्म-निर्जरा यानी आत्म-शुद्धि के लक्ष्य से तपस्या करें, अन्य किसी लक्ष्य से नहीं। और इस लक्ष्य से तपस्या करते हुए यदि उनका शरीर भी तपता है, उस पर कष्ट भी आता है तो उसे

वे समत्व के साथ सहन करें। शारीरिक कष्ट को समतापूर्वक सहन करना उनके लिए महान लाभकारी सिद्ध होगा, उनके कर्मों की विपुल निर्जरा होगी।

सहाय-प्रत्याख्यान की साधना

संधारे के साथ सहाय-प्रत्याख्यान का भी एक क्रम रहा है। इस क्रम को स्वीकार करनेवाला व्यक्ति संधारे में दूसरे किसी व्यक्ति से किसी प्रकार की शारीरिक सेवा नहीं लेता। यह एक कठिन साधना है। पर दृढ़ आत्मबली साधक कठिनाई की परवाह न करते हुए इस साधना का संकल्प स्वीकार करता है। यावत्कथिक अनशन के तीन भेदों का उल्लेख मैंने पहले किया था। प्रथम भेद भक्तप्रत्याख्यान में जहां दूसरों का सहयोग लेना स्वीकृत है, वहीं इंगिनीमरण अनशन स्वीकार करनेवाला दूसरों की किसी प्रकार की शारीरिक सेवा और सहयोग नहीं ले सकता।

मैं समझता हूँ कि सहाय-प्रत्याख्यान की साधना नामांतर से स्वावलंबन की साधना है। जैन-साधना-पद्धति में अनशन के बिना भी इसकी साधना का क्रम रहा है। गौतम स्वामी का उदाहरण हमारे सामने है। एक तरफ वे भगवान के चौदह हजार साधुओं में ज्येष्ठ थे, प्रमुख थे। दूसरी तरफ वे बेले की तपस्या में भी पारणा लाने स्वयं जाते। मुझे ऐसा प्रतिभासित होता है कि प्राचीन काल में स्वावलंबन का सूत्र व्यापक रूप में व्यवहारगत था। साधक अपने समस्त आवश्यक कार्य स्वतः ही करते थे, बल्कि कहना चाहिए कि दूसरों की सेवा और सहयोग लेने की अपेक्षा स्वयं कार्य करने को ज्यादा अच्छा और महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। न केवल साधना के क्षेत्र में, अपितु समाज में भी स्वावलंबन के सूत्र की व्यापक प्रतिष्ठा थी। किंतु वर्तमान युग में उसका अवमूल्यन हो चुका है। इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति अपने हाथ से काम करने में शर्म और संकोच महसूस करता है। दूसरों से काम करवाना बड़प्पन का लक्षण माना जाता है। पर मुझे ऐसा लगता है कि बहुत शीघ्र ही वापस पुराना युग आनेवाला है। परावलंबन के स्थान पर पुनः स्वावलंबन की प्रतिष्ठा होनेवाली है।

यावत्कथिक अनशन के तीसरे प्रकारह्यप्रायोपगमन की विधि तो और भी कठिन है। इसमें साधक न तो दूसरों से शुश्रूषा करवाता है और न स्वयं ही करता है। वह वृक्ष की तरह एकदम स्थिर होकर लेट जाता है और शरीर छोड़ने तक उसी स्थिति में लेटा रहता है।

अनशन या संथारा बहुत महत्त्वपूर्ण है। पर इसमें प्रबल धृति और अखूट आत्म-साहस की नितांत अपेक्षा रहती है। अतः इसे स्वीकार करने में अत्यंत सावधानी बरतनी चाहिए।

बेंगलुरु

३० अक्टूबर १९६६

२१ : साधुत्व की विभिन्न भूमिकाएं

श्रमण और निर्ग्रथहृये दो शब्द हैं। भगवान महावीर के समय बौद्ध, सांख्य, निर्ग्रथ आदि पांच प्रकार के श्रमण थे। भगवान महावीर की श्रमण-परंपरा निर्ग्रथ के रूप में पहचानी जाती थी। निर्ग्रथ ज्ञातपुत्र भगवान महावीर का प्रसिद्ध नाम रहा है। बौद्ध ग्रंथों में भी अनेक स्थलों पर उन्हें इसी नाम से उल्लिखित किया गया है।

निर्ग्रथ का शाब्दिक अर्थ हैह्रग्रंथिरहित। यह साधु का पर्यायवाची नाम है। *आगमों* में छह प्रकार के निर्ग्रथ बताए गए हैंह्र१. पुलाक २. बकुश ३. प्रतिसेवना ४. कषाय-कुशील ५. निर्ग्रथ ६. स्नातक। अब समझने की बात यह है कि आज दीक्षित साधु भी निर्ग्रथ है और वर्षों से साधुत्व का पालन करनेवाला भी निर्ग्रथ है। पुलाक, बकुश आदि प्रमादी, दोषों का सेवन करनेवाले साधु भी निर्ग्रथ हैं तथा विशुद्ध साधुत्व का पालन करनेवाले भी निर्ग्रथ हैं। अनिर्ग्रथ यानी असाधु कोई भी नहीं है। आप इस बात को एक उदाहरण से समझें। एक सम्यक्त्वी व्यक्ति महीने में छह उपवास करता है, पोषध करता है, विभिन्न त्याग-प्रत्याख्यान रखता है, श्रावक की ग्यारहवीं पडिमाह्रश्रमणभूत पडिमा स्वीकार करता है, वहीं एक अन्य व्यक्ति आज ही श्रावक-धर्म स्वीकार करता है। स्पष्ट है, दोनों व्यक्तियों में काफी अंतर है। बावजूद इसके, वे दोनों श्रावक की संज्ञा से अभिहित होते हैं। आप जानते ही हैं कि पहली कक्षा में पढ़नेवाला और एम. ए. में पढ़नेवाला दोनों ही छात्र कहलाते हैं।

अधीर न बनें

कुछ लोग हमारे साधु-साध्वियों की छोटी-मोटी गलती या प्रमाद देखकर अधीर बन जाते हैं, शंकाशील बन जाते हैं। इस कारण वे साधु-साध्वियों के पास आना और वंदना-व्यवहार बंद कर देते हैं। जयाचार्य ने उनकी मनःस्थिति का चित्रण करते हुए लिखा हैह्रखामी देख छदमस्थ री रे,

ए मूरख देवै रोय। वे यह नहीं सोचते कि साधु-साध्वियां साधक की भूमिका में हैं, सिद्ध नहीं। वे छद्मस्थ हैं, वीतराग और केवलज्ञानी नहीं। वीतराग और केवली किसी प्रकार का प्रमाद या गलती नहीं करते, किंतु जहां छद्मस्थता है, वहां जाने-अनजाने भूल या प्रमाद की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। इस संदर्भ में किसी को भ्रांति न हो, अतः एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि ऐसा कहकर मैं किसी भी साधु या साध्वी की गलती और प्रमाद का समर्थन नहीं कर रहा हूं। मैं तो मात्र एक वास्तविकता से सबको परिचित करवा रहा हूं। लोगों को समझना चाहिए कि दीक्षित होने का अर्थ तो साधना के क्षेत्र में प्रवेश मात्र है। साधना के विस्तृत क्षेत्र में गति-प्रगति तो आगे होनी है। जब तक साधना में परिपक्वता नहीं आ जाती, तब तक किसी भी साधक से प्रमाद होने की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किंतु जैसे-जैसे साधना में परिपक्वता आती जाती है, वैसे-वैसे प्रमाद की संभावना कम होती चली जाती है। इस क्रम में साधना की एक ऐसी भूमिका भी आती है, जहां पहुंचने के पश्चात साधक से किसी भी प्रकार के प्रमाद होने की कोई संभावना नहीं रहती। ऐसी स्थिति में किसी भी समझदार और विवेकशील श्रावक के लिए यह अपेक्षित है कि वह किसी साधु-साध्वी की कोई भूल या प्रमाद देखकर अधीर न बने, अपने मन में किसी प्रकार की गलत धारणा न बनाए, अपनी श्रद्धा को कमजोर न होने दे।

श्रावकोचित कर्तव्य

उसका श्रावकोचित कर्तव्य तो यह है कि वह भूल या प्रमाद करनेवाले साधु को अवसर देखकर एकांत में विनम्रतापूर्वक उसकी भूल या प्रमाद का अहसास कराए, भविष्य में उसकी पुनरावृत्ति न करने के लिए सजग करे। पर उसकी गलती का अपने सिर पर किसी प्रकार का भार न ढोए। उसके मन में इस संदर्भ में किसी प्रकार का संदेह हो तो उससे पूछकर संदेह का निवारण कर ले। यदि वहां उसके संदेह का निवारण न हो तो वह गुरु के पास पहुंचकर उसका निवारण कर ले और सर्वथा निर्भार बन जाए। किंतु ऐसा न कर यदि उसने उसका भार ढोया तो वह अपना बहुत बड़ा अहित कर सकता है। गलती करनेवाला साधु तो बहुत संभव है कि अपने प्रमाद का प्रायश्चित्त स्वीकार कर शुद्ध बन जाए, पर उसका वह संकाग्रस्त मानस उसके सम्यक्त्व को कमजोर बना सकता है,

नष्ट कर सकता है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह बहुत बड़ा अहित है।
अतः श्रावक-श्राविकाएं इस दृष्टि से अपना चिंतन और व्यवहार सम्यक
रखें।

बेंगलुरु

३१ अक्टूबर १९६६

२२ : सामायिक

सामायिक जैनों की आध्यात्मिक क्रियाओं का एक अंग है। अन्य धर्मावलंबी जैसे संध्या-वंदन आदि में दो-एक घड़ी लगाते हैं, वैसे ही जैन-श्रावक सामायिक आदि करते हैं।

सामायिक में व्यक्ति एक मुहूर्त के लिए साधु-सा बन जाता है। वह सांसारिक परिग्रह आदि झंझटों से मुक्त रहता है और रहना भी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का यह लक्ष्य होना चाहिए कि मुझे जल्द-से-जल्द मुक्ति मिले। मुक्त होने के लिए साधु बनना, साधुत्व का आना जरूरी है और सामायिक साधु बनने का एक प्रयास है। प्रत्येक व्यक्ति की आंतरिक भावना यही रहनी चाहिए कि वह दिन धन्य होगा, जब मैं भी साधु बन अपनी कर्म-वर्गणाओं से मुक्त हो जाऊंगा।

आजकल बहुत-से व्यक्ति सामायिक का नाम ही नहीं लेते। प्रेरणा देने पर नाना प्रकार के बहाने बनाकर बचना चाहते हैं। ऐसा करनेवाले मेरी दृष्टि में गलती करते हैं। सामायिक की दो घड़ियां उतनी ही उपयोगी हैं, जितनी कि हाथ में पकड़ी हुई दो अंगुल डोरी। डोली के डोरी बांधकर कुएं से पानी निकाला जाता है। सारी डोरी कुएं में चली जाती है, सिर्फ दो-चार अंगुल डोरी हाथ में रहती है और उसी से वह डोल कुएं में से निकाल ली जाती है। यदि यह सोचकर कि क्या है, दो-चार अंगुल ही तो है, वह डोरी भी छोड़ दी जाए तो? डोल कुएं में गिर जाती है। बड़ी कठिनाई से पुनः निकाली जाती है। इसी तरह यह धर्म की दो घड़ियां शेष अठावन घड़ियों का मुकाबला कर सकती हैं। व्यक्ति को गिरने से बचा सकती हैं।

सामायिक का अर्थ है एक मुहूर्त के लिए पापकारी प्रवृत्तियों का परित्याग करना और प्राणिमात्र के प्रति समता भाव रखना। किसी भी व्यक्ति से द्वेष-भाव न रखकर उसे स्व-तुल्य समझना। मनुष्य तो क्या, पानी,

वनस्पति, अग्नि, तिर्यच आदि सभी जीवों के प्रति मैत्री भाव रखना और इसी क्रम को आगे-से-आगे बढ़ाते हुए साधु बनकर मुक्त हो जाना, परमात्मपद को प्राप्त कर लेना। कितना सुंदर है सामायिक का अनुष्ठान! कितनी लाभप्रद है सामायिक की साधना!

२३ : जैन-धर्म पुरुषार्थप्रधान है

हम जैन-धर्म के अनुयायी हैं। यह धर्म बहुत प्राचीन है। यह बात आप लोगों ने इतिहास में पढ़ी होगी। आज हम जैन साधु साक्षात् रूप में आपके सामने उपस्थित हैं। इस धर्म की मुख्यतः दो विशेषताएं हैं—१. वीर्य-प्रधान २. आत्मा की स्वतंत्रता में विश्वास।

जैन-धर्म वीर्य-प्रधान है। वह पुरुषार्थ पर अधिक विश्वास करता है। यदि मनुष्य स्वयं पुरुषार्थी नहीं होगा तो भगवान क्या करेगा! अपने भाग्य का विधाता स्वयं मनुष्य है। पुरुषार्थ करने पर उसका फल निश्चित ही मिलेगा।

जैन-धर्म आत्मा की पूर्ण स्वतंत्रता में विश्वास करता है, न कि उसके अंश में। सूर्य की किरणें अंश हो सकती हैं, न कि सूर्य। हमारी आत्मा स्वतंत्र है, इसलिए हम परमात्मपद को प्राप्त कर सकते हैं। आप परमात्म-पद को प्राप्त करना चाहते हैं तो सत्य और अहिंसा का सक्रिय अभ्यास करें। यदि मनुष्य के जीवन में शुद्ध व्यवहार नहीं है तो उसका जीवन निष्फल है। जितनी शक्ति है, उसका उपयोग करना चाहिए। परंतु शक्ति के कारण आदर्श का पतन नहीं करना चाहिए। आप लोगों ने अणुव्रत के संबंध में सुना होगा। इसका अर्थ है—आत्मा के विकास का प्रारंभ। बिना साधना किए जीवन सुखी नहीं हो सकता। साधना से ही सच्चे सुख एवं शांति की अनुभूति हो सकती है। इसलिए अणुव्रत को स्वीकार कर अपने उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करें।

२४ : आगम-अनुसंधान की आवश्यकता

आत्मा की त्रैकालिक अवस्थिति तीन वाक्यों (मैंने किया। मैं करा रहा हूं। मैं करनेवाले का अनुमोदन करूंगा।) में बताई गई है। इसमें इतना और ज्ञातव्य है कि ये वाक्य नव वाक्यों को समाहित किए हुए हैं। **आद्यन्तयोर्ग्रहणात् मध्यग्रहणमूह**आदि और अंत का ग्रहण करने से मध्य का ग्रहण अपने-आप हो जाता है। 'मैंने किया, कर रहा हूं और करनेवाले का अनुमोदन करूंगा'हइसका विशेष वाच्यार्थ हैह'मैंने किया, कराया और अनुमोदन किया। कर रहा हूं, करा रहा हूं और अनुमोदन कर रहा हूं। करूंगा, कराऊंगा और अनुमोदन करूंगा।' इस व्याख्या से उक्त सूत्रों का अर्थ स्पष्ट होता है।

भूत, भविष्य और वर्तमान, तीन करण तथा तीन योगहइस क्रम से सत्ताइस भेद हो जाते हैं। इसके आधार पर हम समझ सकते हैं कि केवल शरीर या वचन से ही पाप नहीं होता, मानसिक प्रवृत्ति से भी पाप हो सकता है। मन, वचन और शरीर से शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के काम होते हैं। अशुभ कामों से निवृत्त होकर शुभ की ओर प्रवृत्त होनेवाला व्यक्ति बहुत-से पापों से अपना बचाव कर सकता है।

असत्प्रवृत्ति से निवृत्त होना बहुत कठिन है, इसलिए कई लोग कहते हैंह'हम गृहस्थ हैं। ऐसा किए बिना हमारा काम नहीं चल सकता।' मैं उनसे कहता हूंह'आप घबराइए मता यदि मन का अनुमोदन नहीं छूट सकता है तो कोई बात नहीं। आप करने और कराने से तो निवृत्त हो ही सकते हैं। यदि मन और वाणी पर काबू नहीं हो सकता है तो कम-से-कम कायिक कुचेष्टा से बचा जाए तो भी बहुत लाभ हो सकता है।'

कुछ लोगों का अभिमत है कि बंधन और मुक्ति का कारण मन ही है। मैं समझ नहीं पाया कि अकेला मन क्या कर सकता है। मन में शराब पीने की इच्छा हुई, पर जब तक आप पीते नहीं हैं, तब तक दुर्व्यसनी तो नहीं

बनेंगे। मैं आपसे फिर कहता हूँ कि एक बार मानसिक असत्प्रवृत्ति से बचने की बात छोड़कर आप शारीरिक दुष्प्रवृत्ति का निरोध करने का प्रयास तो करें।

किसी व्यक्ति को गुस्सा बहुत आता है। यह एक मानसिक आवेग है। इसे होठों से बाहर न निकाला जाए तो व्यक्ति गुस्से में बेभान नहीं बन सकता। शास्त्रों में बताया गया है क्रोध मत करो। यह बहुत ऊंची बात है। कदाचित् क्रोध आ भी जाए तो उसे सफल मत करो। यानी आवेश में आकर कोई काम मत करो। ऐसी स्थिति में वह स्वयं विफल हो जाएगा। इस प्रकार मन, वाणी और शरीर तीनों का परिमार्जन करने से ही आत्मा पवित्र बन सकती है।

हमारी आत्मा में अनंत शक्ति है। उस शक्ति का समुचित उपयोग किया जाए तो मनुष्य हर स्थिति पर नियंत्रण पा सकता है और हर रहस्य को समझ सकता है। किंतु जो व्यक्ति आत्मा के प्रति ही आस्थावान नहीं है, उसे आत्मा के कर्तृत्व पर भरोसा हो, यह संभव नहीं लगता।

आत्म-तत्त्व को समझने के लिए हमें सूक्ष्मता से शास्त्रों का अध्ययन करना होगा, क्योंकि शास्त्रों की रचना बहुत ही संक्षेप में की गई है। शास्त्रकार का उद्देश्य समझे बिना तत्त्व समझ में नहीं आ सकता। यद्यपि चूर्णिकारों और टीकाकारों ने संक्षिप्त सूत्रों को विस्तार देने का प्रयास किया है, किंतु हमें और भी अधिक सतर्कता से काम करना है। इसी दृष्टि से मैं आगम-अनुसंधान के कार्य को बहुत ही आवश्यक मानता हूँ। हमारी दृष्टि पैनी होगी, तभी हम आगमों का प्रत्येक रहस्य पकड़ सकेंगे।

२५ : सम्यक्त्व के पांच लक्षण

आगमों में सम्यक्त्व के पांच लक्षण बताए गए हैंह१. शम २. संवेग ३. निर्वेद ४. अनुकंपा ५. आस्तिक्य।

शम

शम से तात्पर्य हैहक्रोध, अहंकार आदि आवेगों का शांत होना। क्रोध आदि का तीव्र आवेग सम्यक्त्व के लिए बड़ा खतरा है। इनसे सलक्ष्य बचना चाहिए। मैं देखता हूं कि लोग तंबाकू, भांग, शराब-जैसी चीजें भी पी जाते हैं, तब सम्यक्त्व के लिए खतरारूप इन आवेगों को भी पीना सीखना चाहिए। इससे व्यक्ति का व्यवहार अच्छा बनता है। दूसरों के मन पर उसके व्यवहार की अच्छी छाप पड़ती है। जिस व्यक्ति के क्रोधादि आवेग-संवेग अनियंत्रित होते हैं, वह लोकप्रिय नहीं बन सकता, लोग उसे चाहते नहीं। सबसे बड़ी बात यह है कि वह व्यक्ति सदा अशांत रहता है। वह न स्वयं शांति के साथ जीता है और न अपने परिवार और पड़ोसियों को शांति के साथ जीने देता है। इसलिए शांति और सुख से जीने के इच्छुक हर व्यक्ति को शम का अभ्यास करना चाहिए।

संवेग

सम्यक्त्व का दूसरा लक्षण हैहसंवेग। संवेग का अर्थ हैहमुमुक्षा-भाव। सम्यक्त्वी के मन में संसार से मुक्त होने की तीव्र भावना होनी चाहिए। जब तक तीव्र मुमुक्षा भाव नहीं होता, तब तक व्यक्ति संसार से छूटने का सघन प्रयत्न नहीं करता। उस दिशा में उसका पुरुषार्थ कमजोर रहता है। ऐसी स्थिति में मुक्ति के लक्ष्य तक पहुंचना कठिन होता है।

निर्वेद

सम्यक्त्व का तीसरा लक्षण हैहनिर्वेद। निर्वेद का अर्थ हैहभव-विराग यानी संसार से विरक्ति। इस संदर्भ में एक बात समझ लेने की है। संसार से

विरक्ति या वैराग्य का अर्थ दीक्षा लेनाहसाधु-जीवन अंगीकार करना ही नहीं है। हां, वह भी उसकी एक भूमिका है, पर इस भूमिका में जाना सबके लिए संभव नहीं है। कोई-कोई विशिष्ट आत्मबली व्यक्ति ही उसमें प्रवेश पाता है। पर सांसारिक कार्यों में आसक्ति से बचना हर-कोई के लिए संभव है। जिस व्यक्ति का निर्वेद-भाव जितना अधिक पुष्ट होता है, वह सांसारिक प्रवृत्तियों में उतना ही अधिक अनासक्त बना रहता है। तात्पर्य कि सांसारिक कार्यों में लिप्तता के आधार पर हम किसी भी व्यक्ति के निर्वेद-भाव का अंकन कर सकते हैं। एक सम्यक्त्वी व्यक्ति के जीवन में उसकी हर प्रवृत्ति में निर्वेद-भाव प्रतिबिंबित होना चाहिए।

अनुकंपा

सम्यक्त्व का चौथा लक्षण हैह्वअनुकंपा। अनुकंपा का अर्थ तो स्पष्ट ही है। एक सम्यक्त्वी प्राणी के हृदय में करुणा का स्रोत प्रवाहित होता रहता है। वह किसी के साथ निष्ठुर व्यवहार नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति के व्यवहार में निष्ठुरता होती है, क्रूरता होती है, मानना चाहिए कि उसके हृदय में करुणा का स्रोत सूख गया है। जो लोग श्रमिकों का शोषण करते हैं, ग्राहकों के साथ धोखाधड़ी करते हैं, अनाप-शनाप ब्याज लेते हैं, उन्हें इस परिप्रेक्ष्य में अपने आचरण और व्यवहार की तटस्थ समीक्षा करनी चाहिए। क्या एक करुणाशील व्यक्ति इस प्रकार का कोई आचरण कर सकता है? मेरा ऐसा मानना है कि एक दृढ़ सम्यक्त्वी और सच्चे धार्मिक व्यक्ति की तो बात ही क्या, मानवीय मूल्यों में विश्वास रखनेवाला एक सामान्य व्यक्ति भी इस प्रकार का कोई आचरण और व्यवहार कभी नहीं कर सकता।

आस्तिक्य

सम्यक्त्व का पांचवां और अंतिम लक्षण हैह्वआस्तिक्य। आस्तिक्य से तात्पर्य हैह्वसत्यनिष्ठा। जो यथार्थ तत्त्व जाना है, समझा है, उसके प्रति दृढ़ आस्थावान रहना आस्तिक्य है। यदि तत्त्व के प्रति आस्था दृढ़ नहीं है, डांवाडोल स्थिति है तो सम्यक्त्व कैसे टिकेगा? क्या हिलते हुए पानी में कभी प्रतिबिंब उभर सकता है? प्रतिबिंब उभरने के लिए पानी का सुस्थिर होना जरूरी है। सम्यक्त्व के टिके रहने के लिए तत्त्व के प्रति दृढ़ आस्थावान होना अत्यंत आवश्यक है। थोड़ी-सी इधर-उधर की बात सुनकर समझबूझपूर्वक स्वीकृत तत्त्व के प्रति शंकाशील हो जाना, अनास्थाशील बन जाना वैचारिक अस्थिरता का परिणाम है, कमजोर आस्था की परिणति है।

देव, गुरु और धर्मह्वये तीनों हमारी आस्था के केंद्र होते हैं। एक बार अच्छी तरह जांच-परखकर और समझपूर्वक जिनके प्रति अपनी श्रद्धा केंद्रित की, उनके प्रति इधर-उधर से किसी सुनी-सुनाई बात के आधार पर शंकाग्रस्त होकर अनास्थाशील बन जाना कोई समझदारी और विवेक की बात नहीं है। इससे बहुत बड़ा अहित हो सकता है।

संत तालाब में पानी पी रहे हैं!

एक बार का प्रसंग है। किसी गांव में संतों का आगमन होनेवाला था। स्थानीय श्रावक उनकी अगवानी में गांव के बाहर तक आए, पर दूर-दूर तक भी उन्हें कहीं संत आते हुए दिखाई नहीं दिए। तभी उन्हें संतों के आने के मार्ग से एक काशतकार आता हुआ दिखाई दिया। जब वह उनके पास पहुंचा, तब उन्होंने उससे पूछाह 'क्यों भाई! तुमने संतों को कहीं देखा क्या?' काशतकार ने कहाह 'हां-हां, यहां से थोड़ी दूर पर ही हैं। तालाब में पानी पी रहे हैं।' यह सुन श्रावकों का मन संतों के प्रति शंकाग्रस्त हो गया। उनके मन में विचार आया कि ऐसे शिथिलाचारी संतों से हमारा कोई वास्ता नहीं। फिर किनकी अगवानी! किनके दर्शन! इस चिंतन के साथ ही वे संतों के पहुंचने से पूर्व ही वहां से गांव लौट आए। उनके गांव लौटने के थोड़े समय पश्चात संत भी गांव पहुंच गए और स्थान मांगकर ठहर गए। वहां भी श्रावक लोग दर्शनार्थ नहीं गए। प्रवचन की परिषद भी नहीं जुड़ी। संतों के मन में विचार आया कि यह तो अच्छी भक्ति-भावनावाला क्षेत्र है। इसके बावजूद यहां के लोगों में इतनी उदासीनता और निरपेक्षता तो बहुत गंभीर बात है। किंतु यह निष्कारण तो नहीं होना चाहिए। जरूर कोई कारण बना है। हमें उसका पता लगाकर उसका समुचित निराकरण करना चाहिए। भिक्षा का समय हुआ और संत भिक्षा के लिए घरों में गए। वहां उन्होंने मनोवैज्ञानिक ढंग से एक-दो भाइयों का मानस कुरेदा, ताकि श्रावकों की इस उदासीनता और निरपेक्षता का कारण सामने आ सके। संतों ने पूछाह 'क्या तुम लोगों को संतों के आने की सूचना नहीं थी? कोई भी दर्शन करने नहीं आया, प्रवचन सुनने नहीं आया।' ज्यादा कुरेदने पर एक भाई बोलाह 'किनके दर्शन करना! किनका प्रवचन सुनना! आप लोग बिलकुल शिथिलाचारी हो गए हैं।' संतों ने पूछाह 'ऐसी क्या बात देखी आप लोगों ने?' भाई बोलाह 'इससे अधिक और क्या शिथिलाचार की बात हो सकती है कि आप लोग तालाब का कच्चा (सचित्त) पानी पीते हैं?' कच्चा पानी पीने की बात सुन संतों को बहुत

आश्चर्य हुआ। उन्होंने उसी भावधारा में पूछाह 'इस बात का पुष्ट आधार क्या है? किसने देखा संतों को कच्चा पानी पीते हुए? क्या तुमने देखा?' भाई बोलाह 'मैंने तो नहीं देखा, पर इसी गांव के एक काश्तकार भाई ने देखा था।' संतों ने पूछाह 'क्या देखा उस काश्तकार भाई ने? कब देखा?' भाई बोलाह 'उसने आज प्रातः ही आपको मार्गवर्ती तालाब में पानी पीते हुए देखा था।' अब संतों को बात समझते देर नहीं लगी। उन्होंने उस भाई से कहाह 'उस भाई से इतनी जानकारी तो करो कि जिस तालाब में पानी पीने की बात वह कह रहा है, उसमें एक भी बूंद पानी है क्या?' उस भाई ने गांव के प्रमुख श्रावकों से बात की। फिर उस काश्तकार भाई को बुलाया गया। उससे जब विस्तारपूर्वक पूछा गया, तब उसने बताया कि तालाब तो बिलकुल सूखा पड़ा है। संत उसमें बैठकर अपने पात्र में साथ लाया हुआ पानी पी रहे थे। अब तो श्रावकों को इस बात का बहुत अनुताप हुआ कि संदर्भहीन बात के आधार पर हम गलत अवधारणा बनाकर सच्चे त्यागी-वैरागी और आचारवान संतों के प्रति शंकाशील बने, हमारे मन में उनके प्रति अनास्था का भाव पैदा हुआ। इस कारण उनके प्रति श्रावकोचित व्यवहार न कर हमने उनकी भयंकर आशातना की। इस अनुताप के साथ ही उन्होंने संतों के चरणों पर गिरकर अपने अविनय और आशातना के लिए क्षमायाचना की।

प्रसंग विजयचंदजी पटवा का

यह तो एक स्थान की घटना है। पर मूल समझने की बात यह है कि जहां-कहीं भी विवेक और समझदारी का अभाव होता है, वहां इस प्रकार की घटना घटित हो सकती है। अतः हर सम्यग्दृष्टि व्यक्ति को इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए कि देव, गुरु और धर्म के प्रति अपनी आस्था को वह किसी भी स्थिति में खंडित न होने दे। विजयचंदजी पटवा का उदाहरण हमारे सामने है। वे पाली के रहनेवाले थे। आचार्य भिक्षु के प्रमुख चार श्रावकों में उन्हें प्रथम स्थान प्राप्त है। आचार्य भिक्षु के प्रति उनकी श्रद्धा इतनी प्रगाढ़ थी कि कोई चाहे उनके (आचार्य भिक्षु के) बारे में कुछ भी क्यों न कह देता, उनकी श्रद्धा किंचित भी खंडित नहीं होती, किंचित भी कमजोर नहीं पड़ती। उसमें शंका को कहीं कोई स्थान नहीं था। एक बार का प्रसंग है। पाली में चंद्रभाणजी, तिलोकचंदजी आदि टालोकरों (संघ से बहिष्कृत या बहिर्भूत ऐसे साधु-साध्वियां, जो संघ की वेश-भूषा में

रहते हैं तथा संघ और संघपति की निंदा व आलोचना करते हैं।) का आगमन हुआ। अपने लंबे प्रवास-काल में उन्होंने विजयचंदजी पटवा से काफी बातचीत की। पटवाजी प्रकृति से बहुत भद्र थे। किसी को कुछ कड़ा कहना जैसे जानते ही नहीं थे। इसके चलते उन्होंने टालोकरों की गलत बातों का कोई प्रतिवाद नहीं किया। इस स्थिति ने स्थानीय अन्य श्रावकों को पटवाजी के बारे में कुछ अन्यथा सोचने का मौका दे दिया। उन्हें लगा कि पटवाजी टालोकरों की बातों से प्रभावित हो गए हैं। तेरापंथ और स्वामीजी के प्रति उनकी आस्था कमजोर हो गई है। संयोग की बात। टालोकरों के वहां से प्रस्थान करने के कुछ दिन पश्चात ही स्वामीजी का पाली पदार्पण हुआ। स्थानीय श्रावकों ने पटवाजी की शिकायत करते हुए कहाह 'गुरुदेव! विजयचंदजी की श्रद्धा स्थिर नहीं है। आप पधारते हैं, तब तो आपका परम भक्त बन जाता है और जब टालोकर आते हैं, तब उनका परम भक्त।' यद्यपि स्वामीजी के स्वयं के मन में तो पटवाजी की इकरंगी श्रद्धा के प्रति किंचित भी संदेह नहीं था, तथापि संतों और श्रावकों के संदेह-निवारण की दृष्टि से यह आवश्यक था कि सारी स्थिति स्पष्ट हो जाए। अतः स्वामीजी चाहते थे कि पटवाजी कभी यह प्रसंग छेड़ें और टालोकरों ने जो-जो गलत बातें उनसे कही हैं, उनके बारे में पूछ लें। पर पटवाजी ने स्वामीजी की पर्युपासना तो बहुत की, पर कभी भी यह प्रसंग उनके सम्मुख नहीं छेड़ा। दूसरी तरफ स्वामीजी के पाली से विहार करने का समय बिलकुल नजदीक आ गया। ऐसी स्थिति में एक दिन स्वामीजी ने ही पहल कर यह प्रसंग छेड़ते हुए पटवाजी से पूछाह 'क्यों, विजयचंदजी इस बार यहां टालोकर आए थे?' पटवाजी ने विनम्रतापूर्वक उत्तर दियाह 'हां, स्वामीनाथ! आए थे।' स्वामीजी ने आगे पूछाह 'तुम्हारा उनसे संपर्क हुआ होगा? बातचीत हुई होगी?' पटवाजी ने कहाह 'हां स्वामीनाथ! बातचीत हुई थी।' स्वामीजी ने तब पूछाह 'उन्होंने तेरापंथ संघ और मेरे बारे में अनेक उतरती (निंदा-आलोचनात्मक) बातें की होंगी?' पटवाजी ने कहाह 'हां, स्वामीनाथ! की थीं।' तब स्वामीजी बोलेह 'तुमने उनके संदर्भ में कुछ भी पूछा नहीं। कुछ पूछना हो तो पूछ लो।' पटवाजी ने कहाह 'नहीं, स्वामीनाथ! उनके संदर्भ में मुझे कुछ भी नहीं पूछना है, क्योंकि मुझे दो बातों का पूरा विश्वास हैह आप इतने आत्मार्थी हैं कि किसी भी स्थिति में कोई अकल्पनीय कार्य कर नहीं सकते तथा जो लोग अनंत सिद्धों की साक्षी से किए गए त्याग भंग कर टालोकर बने हैं, वे किसी भी स्थिति में झूठ बोले बिना रह नहीं सकते। ऐसी

स्थिति में मेरे लिए कुछ भी पूछना कहां शेष रहता है?’ यह सुन स्वामीजी ने वहां उपस्थित संतों तथा श्रावकों को संबोधित कर कहाह ‘सुनते हो, पटवाजी क्या कह रहे हैं? मुझे ऐसा लगता है कि पटवाजी क्षायक सम्यक्त्व के धनी हैं।’

सार-संक्षेप यह कि इधर-उधर की कोई बात सुनकर सम्यक्त्वी को देव, गुरु और धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा को जरा भी कमजोर नहीं करना चाहिए।

बेंगलुरु

२५ सितंबर १९६६

२६ : सम्यक्त्व के पांच अतिचार

सम्यक्त्व के पांच अतिचार हैं १. शंका २. कांक्षा ३. विचिकित्सा ४. परपाषंडप्रशंसा ५. परपाषंडसंस्तव।

शंका

पहला अतिचार है शंका। शंका से तात्पर्य है लक्ष्य के प्रति संदेह। शंका एक ऐसा दोष है, जिसके कारण व्यक्ति पुरुषार्थ करने के बावजूद सफलता से दूर रह जाता है। सम्यक्त्वी को लक्ष्य और तत्त्व के प्रति संदेहमुक्त होना चाहिए, अन्यथा उसके सम्यक्त्व को खतरा पैदा हो जाता है। कुछ लोग शंका और जिज्ञासा दोनों को एक बना देते हैं। पर गहराई से देखा जाए तो दोनों अलग-अलग हैं, दोनों में बहुत अंतर है। जिज्ञासा का अर्थ है ज्ञानने की इच्छा। तत्त्वतः जानना आत्म-विकास और जीवन-विकास की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी तत्त्व है, जबकि शंका व्यक्ति के आत्म-विकास और जीवन-विकास का अवरोधक तत्त्व है। अतः व्यक्ति के लिए श्रेयस्कर यही है कि वह शंका से सलक्ष्य बचते हुए अपने अंतर में जिज्ञासा-वृत्ति जाग्रत करे।

यह ठीक है कि अपना लक्ष्य स्थिर करने से पूर्व व्यक्ति तत्त्व को गहराई से समझे। पर समझपूर्वक लक्ष्य स्थिर करने के पश्चात उसमें बार-बार शंका करना, लक्ष्य के प्रति आस्थाहीन बनना सम्यक्त्वी के लिए कतई उचित नहीं। जिस प्रकार पैर में कांटा चुभ जाने पर व्यक्ति को कदम-कदम पर रुकना पड़ता है, उसी प्रकार आस्थाहीन व्यक्ति लक्ष्य के प्रति कदम-कदम पर शंका करता है।

कांक्षा

सम्यक्त्व का दूसरा अतिचार है कांक्षा। कांक्षा का अर्थ है लक्ष्य के विपरीत पथ की अभिलाषा। सीधे शब्दों में कहें तो आडंबरयुक्त दूसरे मत को देखकर यह सोचना कि मेरे द्वारा स्वीकृत मत की अपेक्षा यह मत अच्छा

हैहइस प्रकार का चिंतन, परमत के प्रति आकर्षण कांक्षा है। एक सम्यक्त्वी के लिए यह कतई उचित और हितकर नहीं कि वह बाह्य आकर्षणों से आकृष्ट होकर स्वलक्ष्य और स्वमत के प्रति शंकाशील बन जाए। कोई कह सकता हैह 'निर्ग्रंथ प्रवचन तो सर्वथा असांप्रदायिक है। उसमें यह सांप्रदायिकता क्यों आ गई? कैसे आ गई?' गहराई से देखा जाए तो यह सांप्रदायिकता की बात बिलकुल नहीं है। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपने लक्ष्य पर स्थिर रहना अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा व्यक्ति भटक जाएगा। आज कहीं, कल कहीं और परसों कहींहइस प्रकार वह भटकता रहेगा और उसे लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। हम इतिहास में पढ़ते हैं कि भगवान महावीर के समय तीन सौ तिरसठ मत अस्तित्व में थे। वर्तमान में भी अनेकानेक मत प्रचलित हैं। समय-समय पर इन मतों की संख्या घटती-बढ़ती रहती है। पर एक सम्यक्त्वी तत्त्व समझकर एक बार जो लक्ष्य स्थिर कर लेता है, फिर उसके प्रति किसी प्रकार की शंका को स्थान नहीं देता, उस पर निरंतर स्थिर रहता है। किसी परमत के प्रति आकृष्ट होकर उसे अपना लक्ष्य नहीं बनाता। मूलतः असांप्रदायिकता का अर्थ दूसरे मत की ऊपरी चकाचौंध देखकर अपने स्वीकृत मत या लक्ष्य से भटक जाना नहीं, अपितु सभी मत एक-दूसरे पर आक्षेप-प्रक्षेप से बचते हुए तटस्थ भाव से रहेहयह असांप्रदायिकता है।

विचिकित्सा

सम्यक्त्व का तीसरा अतिचार विचिकित्सा है। विचिकित्सा का अर्थ हैहलक्ष्यपूर्ति के साधनों के प्रति संशयशीलता। दूसरे शब्दों में क्रिया के प्रति संदेह करना। मैं तपस्या करता हूं, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन करता हूंइनका फल मुझे मिलेगा या नहींहइस प्रकार का मन में संशय होना विचिकित्सा है।

कुछ लोगों के मन में यह संदेह होता है कि अहिंसा से हमारा काम कैसे चलेगा। ऐसी मानसिकतावाले लोगों से मैं एक-दो बातें पूछना चाहता हूं। क्या अहिंसा संसार के कार्य चलाने के लिए है? क्या खेती, व्यापार और राष्ट्र की सीमाओं की सुरक्षा अहिंसा से होगी? ऐसा कभी संभव नहीं है। मूलतः अहिंसा का कार्यक्षेत्र सर्वथा भिन्न है। अहिंसा की साधना और उसका जीवन में प्रयोग कर व्यक्ति अपनी आत्मा को नए कर्म-बंधन से बचा सकता है। वैसे पूर्ण अहिंसा के पालन का विधान संयमी साधु-साध्वियों के

लिए है, गृहस्थों के लिए नहीं। चूंकि गृहस्थों के लिए बहुत-सी ऐसी प्रवृत्तियां आवश्यक होती हैं, जिनमें हिंसा अवश्यंभावी है, इसलिए उनके लिए पूर्ण अहिंसा के पालन का कोई विधान नहीं है। अलबत्ता अनावश्यक हिंसा और संकल्पजा हिंसा से बचना तो उनके लिए भी अपेक्षित माना गया है।

पूर्ण अहिंसा की तरह पूर्ण अपरिग्रह की बात भी एक गृहस्थ के लिए अव्यावहारिक है। इस संदर्भ में जैन-धर्म एक बहुत ही व्यावहारिक बात कहता है। एक गृहस्थ से वह कहता है कि वह अर्थाजर्जन में साधन-शुद्धि का ध्यान रखे। अशुद्ध साधनों से सलक्ष्य बचे। अनावश्यक संग्रह न करे और अर्थ के प्रति लालसा एवं आसक्ति न रखे। अनासक्ति का अभ्यास करे। कुछ लोग अपने परिग्रह की सीमा करते हैं। यह अच्छी बात है। किंतु जो करते हैं, वह यदि अपने पास रहे अर्थ से बहुत ज्यादा है तो इसे उचित नहीं माना जा सकता, क्योंकि इससे तो उनकी आसक्ति मिटने या कम होने की बनिस्बत बढ़ जाती है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति के पास लाख रुपए हैं। अब यदि वह अपने परिग्रह की सीमा चार लाख रखता है तो मानना चाहिए कि अर्थ के प्रति उसकी लालसा और आसक्ति पूर्वापेक्षया बढ़ गई। आचार्य उमास्वाति ने परिग्रह की परिभाषा करते हुए लिखा है **हैहमूर्च्छा परिग्रहः**। इस परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो एक व्यक्ति के पास करोड़ों की संपत्ति होने के बावजूद वह अनासक्ति का जीवन जी सकता है। इसके विपरीत जिस व्यक्ति के पास मात्र एक लाख रुपए हैं, उसके ज्यादा आसक्ति हो सकती है और वह उस करोड़पति की तुलना में बड़ा परिग्रही है। अतः श्रावक का हित इसी में निहित है कि वह धायमाता की तरह अंतर्मन से अर्थ के प्रति अनासक्त रहे।

परपाषंडप्रशंसा और परपाषंड संस्तव

परपाषंडप्रशंसा और परपाषंडसंस्तवह्ये सम्यक्त्व के अंतिम दो अतिचार हैं। पाषंड यानी पाखंड। प्राचीनकाल में यह शब्द संप्रदाय या मत के अर्थ में व्यवहृत होता था, किंतु वर्तमान में यह शब्द ढोंग, ढकोसला, छलना आदि अनेक कुत्सित अर्थों में प्रयुक्त होता है। मूलतः शब्दों की भी अर्थयात्रा चलती रहती है। उनके अर्थ में उत्कर्ष और अपकर्ष आता रहता है। देश, काल के अनुसार उनके अर्थ बदलते रहते हैं। पाषंड शब्द के साथ भी ऐसा ही हुआ है। यह बात मैंने प्रासंगिक रूप में स्पष्ट की। यहां मूल

समझना इतना-सा है कि जो मत लक्ष्य से विपरीत हैं, उनकी प्रशंसा करना और उनका संसर्ग करना, उनसे घनिष्ठता बनानाहसम्यक्त्व के अतिचार हैं। सम्यक्त्व की शुद्धि और सुरक्षा की दृष्टि से इन प्रवृत्तियों से सलक्ष्य बचना जरूरी है।

कुछ व्यक्ति कहते हैं कि आचार्य तुलसी समन्वय की बात कहते हैं, इसलिए सभी साधुओं को एक-सरीखा समझना चाहिए। मैं समझता हूँ कि यह मेरे कथन का आशय सम्यक रूप में न समझने का परिणाम है। आपको यह समझना चाहिए कि भेद-बुद्धि, हंस-विवेक के अभाव में नीर और क्षीर को पृथक-पृथक नहीं किया जा सकता। नीर-क्षीर के पृथक्कीकरण की तरह ही साधु-असाधु के पृथक्कीकरण के लिए हंस-विवेक अपेक्षित है, भेद-बुद्धि की जरूरत है। मैं जिस समन्वय की बात करता हूँ, प्रेरणा देता हूँ, उसका आशय अथवा सीमा यह है कि अपने संप्रदाय की मान्यताओं और लक्ष्य में स्थिर रहते हुए दूसरे-दूसरे संप्रदायों के प्रति समता के भाव रखना, सद्भाव रखना। अपने संप्रदाय और उसकी मान्यताओं की सुरक्षा का उपाय और प्रयत्न तो एक सम्यक्त्वी को करना ही होगा। यह तो कांटों से बचने के लिए पैरों में जूते पहननेवाली-सी बात है।

मेरा मूल प्रतिपाद्य सम्यक्त्व के अतिचारों का था। सम्यक्त्व के पांच अतिचारों की चर्चा मैंने की। इनसे बचना प्रत्येक सम्यक्त्वी के लिए आवश्यक है।

बेंगलुरु

३ अक्टूबर १९६९

२७ : आत्मस्वरूप की पहचान ही सम्यक्त्व है

गुरु मूल हैं

सम्यक्त्व के लिए देव, गुरु और धर्म की यथार्थपरक समझ जरूरी है। यानी मेरे आराध्यदेव कौन हैं, मेरे आध्यात्मिक गुरु कौन हैं तथा मेरा धर्म कौन-सा है इन तीनों बातों को सही ढंग से समझना सम्यक्त्व है। अरहंत प्रभु सच्चे देव हैं। संसार का कोई भी दूसरा देव उनकी तुलना में नहीं आता। जीवनपर्यंत पांच महाव्रतों की निरतिचार पालना करनेवाले साधु सच्चे गुरु हैं। केवलि-प्रज्ञप्त धर्म सच्चा धर्म है। हम ध्यान दें कि एक तरफ देव हैं और दूसरी ओर धर्म है। इनके मध्य में गुरु हैं। मध्य यदि सही है तो इधर और उधर दोनों तरफ सही की आशा की जा सकती है, अन्यथा नहीं। इस दृष्टि से गुरु का हमारे जीवन में विशेष महत्त्व है। देव, गुरु और धर्म को रूपक की भाषा में ऐसा कह सकते हैं कि देव हमारी मंजिल हैं, गुरु हमारे पथ-दर्शक हैं और धर्म पथ है। यदि पथ-दर्शक ठीक है तो हमें अपनी मंजिल का यथार्थपरक ज्ञान हो सकेगा और वहां तक पहुंचने का सही मार्ग भी मिल जाएगा। इसके विपरीत यदि पथ-दर्शक सही नहीं है, खुद ही गुमराह है तो हमें न मंजिल का सही ज्ञान हो सकेगा और न वहां तक पहुंचने के मार्ग का। इस अपेक्षा से हमें मानना चाहिए कि पथ-दर्शक यानी गुरु मूल हैं। जिस प्रकार मूल को सींचने से शाखाओं-प्रशाखाओंसहित फूलों और पत्तों को सिंचन मिल जाता है, उसी प्रकार जिसने सच्चे गुरु की पहचान कर उनकी शरण स्वीकार कर ली, वह सच्चे देव को भी प्राप्त कर लेता है और सच्चे धर्म को भी। इसके ठीक विपरीत जिसने सच्चे गुरु की पहचान कर उनकी शरण स्वीकार नहीं की, वह सच्चे देव और सच्चे धर्म की प्राप्ति के लाभ से उसी प्रकार वंचित रह जाता है, जिस प्रकार मूल को गौण कर फूल और पत्तों का सींचने से बगिया उजड़ जाती है।

प्रसंग माओ का

माओ के बचपन की घटना है। उसकी मां की एक सुंदर बगिया थी। चूंकि वह उसे बहुत प्रिय थी, इसलिए वह उसका खूब खयाल रखती थी। एक बार मां को किसी आवश्यक कार्य से बाहर जाना था। प्रस्थान करने से पूर्व उसने पुत्र माओ को बुलाया और उसे बगिया की जिम्मेदारी संभलाते हुए कहाह 'देखो, मैं लौटूं तब तक बगिया के पौधों को प्रतिदिन सींचते रहना।' माओ ने मां का निर्देश सहर्ष स्वीकार करते हुए उसे विश्वास दिलायाह 'तुम निश्चित रहो। मैं बगिया का पूरा-पूरा ध्यान रखूंगा।' मां रवाना हो गई। पीछे से माओ बगिया में गया। उसके मन में विचार आया कि मां बहुत पढ़ी-लिखी नहीं है, इसलिए उसकी समझ बहुत विकसित नहीं है। तभी तो वह व्यर्थ ही पौधों की जड़ों में खूब पानी सींचती है। इसकी कोई जरूरत नहीं है। हमें तो मात्र फूलों से मतलब है और यह मतलब फूलों व पत्तों को सींचने से ही पूरा हो जाता है। मैं अब जड़ों को सींचने की नासमझी नहीं करूंगा।..... इस चिंतन के साथ उसने जड़ों को छोड़ फूलों और पत्तों को सींचना शुरू कर दिया। इसका परिणाम यह आया कि बगिया धीरे-धीरे सूखने लगी और जब तक मां लौटी, तब तक तो वह पूरी तरह उजड़ चुकी थी। मां अत्यंत दुखी हुई। उसने उसी भावधारा में माओ से कहाह 'मैंने तुम्हें एक छोटा-सा काम सौंपा था, पर तुमने उसे भी नहीं किया। सिंचन के अभाव में मेरी प्यारी बगिया उजड़ गई।' माओ ने कहाह 'नहीं मां, तुम्हारा आदेश शिरोधार्य कर मैंने बगिया प्रतिदिन सींची है।' मां ने साश्चर्य पूछाह 'फिर बगिया उजड़ी कैसे?' इस पर माओ के मुंह जड़ों को छोड़ फूल-पत्तों को सींचने के बात सुन मां के मुंह से अनायास ही निकल पड़ाह 'तुम मूर्ख हो, जो तुमने जड़ों को छोड़ फूल-पत्तों का सिंचन किया। तुम्हारी इस मूर्खता के कारण ही मेरी यह प्यारी बगिया उजड़ी है।' इस घटना ने माओ को जीवन के लिए एक बोध-पाठ दे दिया कि किसी भी समस्या के मूल पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए, उसे मात्र ऊपर-ऊपर से देखने से वह समाहित नहीं हो सकती।

महत्त्वपूर्ण है आत्म-स्वरूप की पहचान

देव, गुरु और धर्म की सम्यक समझहयह सम्यक्त्व का स्थूल रूप है। यदि हम इसके सूक्ष्म रूप की बात करें तो हमें मानना होगा कि आत्मा की पहचान ही सम्यक्त्व है। पूछा जा सकता हैह 'आत्मा की पहचान से क्या

तात्पर्य है?’ हम इस बात को समझें कि स्वरूपतः हमारी आत्मा अनंत ज्ञान से संपन्न है, अनंत दर्शन से संपन्न है, अनंत आनंद और अनंत शक्ति से संपन्न है। आत्मा के इस स्वरूप का ज्ञान करना, पहचान करना ही सम्यक्त्व है।

यों तत्त्व-दृष्टि से देखें तो एक आत्मस्वरूप ही क्यों, नव ही तत्त्व ज्ञेय हैं। यानी संसार में सब-कुछ ज्ञेय है, न जानने का यहां कुछ भी नहीं है। बावजूद इसके, हमें यह मानना होगा कि आत्मस्वरूप की पहचान के समक्ष दूसरी-दूसरी चीजों को जानने का महत्त्व बहुत नगण्य रह जाता है।

हथौड़ा कहां मारने का ज्ञान

एक कार जंगली इलाके से होकर गुजर रही थी। अचानक गाड़ी का इंजन खराब हो गया और गाड़ी वहीं रुक गई। ड्राइवर ने उसे ठीक करने का बहुत प्रयत्न किया, पर सफलता नहीं मिली। आसपास कोई शहर भी नहीं कि जहां से कि किसी मिस्त्री को बुलाया जा सके। फिर रात्रि का समय। इस स्थिति में कार में सवार सेट का चिंतित होना अस्वाभाविक नहीं था। उसने ड्राइवर से कहाहआस-पास के गांव में कोई कामचलाऊ कारीगर भी मिल जाए तो बुलाकर लाओ। ड्राइवर ने पास के गांव में खोज की तो उसे एक व्यक्ति मिल गया, जो कभी-कभार इंजन आदि ठीक करने का छोटा-मोटा काम कर लिया करता था। वह (ड्राइवर) उसे अपने साथ लेकर वहां पहुंचा। उसने इंजन को ध्यान से देखा और उसके रुकने का कारण उसकी समझ में आ गया। उसने सेट से कहाह‘इंजन पूर्ववत् पुनः काम करने लग जाएगा।’ श्रेष्ठी ने पूछाह‘इसका मेहनताना कितना लगे?’ वह ग्रामीण कारीगर बोलाह‘एक हजार रुपए।’ हालांकि सेट को यह मेहनताना बहुत ज्यादा लगा, तथापि उसका यह मुंहमागा मेहनताना देना उसने स्वीकार कर लिया। अब उस ग्रामीण मिस्त्री ने हाथ में हथौड़ा लेकर उससे इंजन पर एक तीव्र प्रहार किया और देखते-ही-देखते वह चालू हो गया। सेट ने राहत की सांस ली। ग्रामीण मिस्त्री ने हथौड़ा अपने थैले में डाला और सेट से अपना मेहनताना मांगा। श्रेष्ठी ने कहाह‘भाई! मैं वचनबद्ध हूं, अतः मुझे मेहनताना देना तो है ही, पर यह कहां तक न्यायोचित हैहइस बात पर जरा तुम स्वयं ही चिंतन करो। आखिर तुमने इंजन के एक हथौड़ा ही तो लगाया है। इसका मेहनताना ज्यादा-से-ज्यादा एक रुपया हो सकता है। फिर ये नौ सौ निन्नानबे रुपए किस बात के?’ वह ग्रामीण मिस्त्री बोलाह‘सेठजी! आपका कहना

बिलकुल सही है। इंजन के हथौड़ा लगाने का मेहनताना तो एक रुपया ही है। नौ सौ निन्नानबे रुपए इस बात के ज्ञान के हैं कि हथौड़ा कहां मारना चाहिए।’

यही बात मैं सम्यक्त्व के संदर्भ में कह रहा था। आत्मस्वरूप का ज्ञान करना ही सम्यक्त्व है। इस ज्ञान के समक्ष अन्य-अन्य बातों के ज्ञान का महत्त्व बहुत कम है। उसका मूल्य एक रुपया है तो आत्मस्वरूप की पहचान का मूल्य नौ सौ निन्नानबे रुपए। अपेक्षा है, हर सम्यक्त्वी प्राणी अपने आत्मस्वरूप की पहचान करे। तभी उसके सम्यक्त्वी होने की सच्ची सार्थकता है।

बेंगलुरु

१ अक्टूबर १९६९

२८ : अणुव्रत मानव-धर्म है

अभी कुछ दिनों पूर्व रूस में एक सर्वधर्म-सम्मेलन हुआ। उसमें भारत का भी प्रतिनिधित्व था। आपको यह सुनकर संभवतः आश्चर्य होगा कि रूस-जैसे कम्यूनिस्ट देश में सर्वधर्म-सम्मेलन-जैसा आयोजन हुआ। पर मेरी दृष्टि में यह कोई आश्चर्य करने-जैसी बात नहीं है। रूस में भी लोगों को सामूहिक रूप में धर्म का पालन करने तथा धर्म के संदर्भ में चर्चा करने की स्वतंत्रता है। पर कैसा धर्म? वैसा धर्म नहीं, जो उपासना और क्रियाकांडप्रधान है। ऐसा धर्म तो कोई व्यक्तिगत रूप में ही कर सकता है, सामूहिक रूप में नहीं। सामूहिक रूप में तो लोग आचार-धर्म का ही पालन कर सकते हैं। मानवता का प्रचार-प्रसार करने का वहां कोई निषेध नहीं है। मुझे ऐसा लगता है कि आज के इस वैज्ञानिक युग में क्रियाकांड और आडंबरप्रधान धर्मों का चलना बहुत कठिन है। आज के युग में तो वे ही धर्म प्रतिष्ठा पा सकेंगे, जो व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन-व्यवहार को परिष्कृत और पवित्र बनाते हैं। मैंने एक गीत में कहा भी है

वही धर्म है सही कि जो जन-जन के मन को मांजे,
घोर तिमिर से आवृत जन-जन की आंखों को आंजे।
उत्तेजित उद्विग्न वृत्तियों को जिसने ललकारा ॥

जाग्रत धर्म हमारा ॥
जीवित धर्म हमारा ॥

इस वैज्ञानिक युग में ऐसे धर्म न टिक पाएंगे,
केवल रूढ़िवाद पर जो चलते रहना चाहेंगे।
'तुलसी' गौरव श्री भिक्षु ने सचमुच हमें उबारा।

जाग्रत धर्म हमारा ॥
जीवित धर्म हमारा ॥

पावनता का जो प्रतीक सारे जग का उजियारा।
जाग्रत धर्म हमारा ॥

मानवता की परिष्कृति का आंदोलन

आप इस बात को गहराई से हृदयंगम करें कि रूढ़िप्रधान, क्रियाकांडप्रधान और आडंबरप्रधान धर्म से जनता का हित होना कठिन है, बल्कि यह कहना ज्यादा उपयुक्त है कि असंभव है। मैं नहीं समझता कि जो धर्म मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनना नहीं सिखाता, वह उसे देवता कैसे बनाएगा; पड़ोसी के साथ प्रेम से मिलना-रहना नहीं सिखाता, वह भगवान से प्रेम करना कैसे सिखाएगा, प्रभु से मिलाने में सक्षम कैसे होगा। अणुव्रत मानव के जीवन-व्यवहार को सुधारने का उपक्रम है। अणुव्रत मानव की मानवता को परिमार्जित करने का अभियान है। हिंदू, मुस्लिम, जैन, बौद्ध, सिख आदि विभिन्न धर्मों के लोग इसे समान रूप से स्वीकार कर सकते हैं। पूछा जा सकता है 'क्या उपासना और क्रियाकांडों में अणुव्रत का कोई विश्वास नहीं है?' हालांकि अणुव्रत उपासना और क्रियाकांडों के सर्वथा विपरीत नहीं है, तथापि उन्हें मात्र उसी सीमा तक उपादेय मानता है, जिस सीमा तक वे व्यक्ति के जीवन को पवित्र बनाने में निमत्त बनें। यानी जो उपासना और क्रियाकांड व्यक्ति को आचार, विचार और व्यवहार से पवित्र बने रहने में प्रेरक नहीं बनते, उन्हें वह कोई महत्त्व नहीं देता।

अणुव्रत : मानव-धर्म

आपको यह जानकर प्रसन्नता होनी चाहिए कि आज अणुव्रत मानव-धर्म का रूप ले रहा है। ऐसे सर्वजनहिताय धर्म की जितनी अधिक प्रतिष्ठा होगी, मानवता का उतना ही अधिक भला हो सकेगा। आज इस बात की अत्यंत अपेक्षा है कि देश के सभी धर्मों के साधु-संन्यासी जनता का सही पथ-दर्शन करें। उन्हें अपने-अपने मंदिर-मठ का मोह छोड़कर जनता को नैतिकता, मानवता और सदाचार का पाठ पढ़ाना चाहिए। इस विषय में उसे प्रशिक्षित करना चाहिए। यदि ऐसा होता है तो आशा की जानी चाहिए कि वह दिन शीघ्र ही आएगा, जब भारत की जनता की नैतिकता, मानवता और चरित्र के प्रति निष्ठा बढ़ेगी और भारत के उज्ज्वल भविष्य का चित्र सबके सामने आएगा।

बेंगलुरु

११ अगस्त १९६६

२६ : अणुव्रत-आंदोलन समय की मांग है

‘अणुव्रत-सप्ताह’ के रूप में आज एक अत्यंत सुंदर रचनात्मक कार्यक्रम प्रारंभ हो रहा है। आप जानते ही हैं कि अणुव्रत देश का प्रमुख नैतिक आंदोलन है। विगत इक्कीस-बाईस वर्षों से देश में नैतिकता का वातावरण बनाने की दृष्टि से इसने अच्छा कार्य किया है। किंतु जब मुझे इस आंदोलन की मात्र प्रशंसा सुनने को मिलती है, तब मुझे प्रसन्नता नहीं होती। मैं चाहता हूं कि इसकी तटस्थ दृष्टि से स्वस्थ आलोचना भी होनी चाहिए, क्योंकि इससे चिंतन में नए-नए उन्मेष आते हैं, विकास के नए-नए रास्ते खुलते हैं। अभी अन्ना साहब (अन्ना सहस्रबुद्धे) ने अणुव्रत के संदर्भ में कुछ जिज्ञासाएं रखीं, कुछ सुझाव दिए। उन्हें सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई। मैं समझता हूं कि हमारे समक्ष सबसे बड़ी कठिनाई यह कि हम लोग एक-दूसरे से दूर रहते हैं, निकट रहने का मौका कम मिलता है। इस कारण कहां क्या हो रहा है, इसकी पूरी और व्यवस्थित जानकारी सबको प्राप्त नहीं होती। इस अर्थ में अणुव्रत कम सौभाग्यशाली रहा है कि वह अपने कार्यक्रमों की जानकारी व्यापक स्तर पर दूसरों को पहुंचाए।

परिस्थितियों को पहचानकर स्वयं परिवर्तन करें

मैं समझता हूं कि अणुव्रत-आंदोलन समय की मांग है। भारत की आजादी के आसपास मेरा ध्यान देश के अनैतिक वातावरण की ओर गया। गिरते राष्ट्रीय चरित्र और बढ़ती अनैतिकता को देख मैंने विचार किया कि जनता का नैतिक एवं चारित्रिक बल बढ़े, इसके लिए सलक्ष्य व्यापक स्तर पर प्रयास किया जाना चाहिए। इस चिंतन के साथ ही मैंने एक निर्णय किया और उसकी क्रियान्विति के रूप में अणुव्रत-आंदोलन का सूत्रपात किया। अणुव्रत-आंदोलन का कार्य कुछ आगे बढ़ने पर यह अनुभव हुआ कि जब तक सामाजिक मापदंड नहीं बदले जाएंगे, सामाजिक जीवन हलका नहीं होगा, तब तक व्यक्ति के लिए नैतिक एवं चरित्रनिष्ठ बनना कठिन होगा।

इस बात को ध्यान में रखते हुए हमने अणुव्रत के मंच से कुछ ऐसे कार्यक्रम दिए, जिनके द्वारा व्यक्ति के सामाजिक जीवन में हलकापन आए तथा समाज का वातावरण स्वस्थ बने। मुझे इस बात की सात्त्विक प्रसन्नता है कि इस प्रयास का अच्छा परिणाम आया है, आ रहा है। समाज का वातावरण बदला है, बदल रहा है। लोगों के जीवन में काफी सादगी आई है। दक्षिण भारत में पहली बार आया हूँ और अभी तक थोड़ा ही समय हुआ है। ऐसी स्थिति में यहां बदलाव या परिवर्तन की बात अभी तक प्रारंभिक भूमिका में ही है। इस कारण बदलाव की बात कहने पर मुझे लोगों का आक्रोश और विरोध सहन करना पड़ता है। पिछले दिनों की ही घटना है। एक स्थान पर मेरे प्रवचन का कार्यक्रम था। मैं अपना प्रवचन शुरू करूँ, उससे पूर्व एक भाई मेरे पास आया और बोलाह 'आपको अपने प्रवचन में सूद (ब्याज) के बारे में कुछ नहीं कहना है। आप अपने प्रवचन-प्रवचन में इसकी चर्चा करते हैं, इससे घाटे के रूप में हमारे व्यापार-व्यवसाय पर असर पड़ता है।' मैंने कहाह 'मैं न तो आपका व्यापार बंद करना चाहता हूँ और न उसमें घाटा ही लगाना चाहता हूँ। मैं तो बस इतना-सा चाहता हूँ कि आप समय और परिस्थितियों को पहचानें और तदनु रूप अपने-आपमें परिवर्तन लाएं। सामान्यतः मैं किसी पर भी व्यक्तिगत रूप में प्रहार नहीं करता, पर सामूहिक रूप में बुराई पर प्रहार करना मेरा कार्य है, फिर भले वह बुराई व्यापारी-वर्ग में हो, राज्यकर्मचारी-वर्ग में हो या अन्य किसी वर्ग में।'

मैं चाहता हूँ कि 'अणुव्रत-सप्ताह' के इन सात दिनों में हम अणुव्रत के संदर्भ में विभिन्न वक्ताओं के विचार सुनें, दूसरों को सुनाएं और परस्पर चिंतन-मनन करें। मेरा ऐसा मानना है कि इस प्रकार के कार्यक्रमों से जनता में नैतिकता और चरित्रनिष्ठा का वातावरण बनता है। आशा करता हूँ कि अणुव्रत-आंदोलन पूरे देश में नैतिकता और चरित्र का एक सशक्त वातावरण बनाने में निमित्त बनेगा।

बेंगलुरु

१० अगस्त १९६६

३० : अणुव्रत राष्ट्रीय आचार-संहिता है

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एक सक्रिय संगठन है। मैं अनेक बार इसके कार्यक्रमों में गया हूँ। गुरुजी-सहित इसके अनेक नेताओं से भी मेरा मिलना हुआ है। इस संगठन की दो विशेषताएं उल्लेखनीय हैं। इसमें तरुण कार्यकर्ताओं की बहुलता है और जिस संगठन में तरुण कार्यकर्ता सक्रिय होते हैं, उसके कार्य में गति आते देर नहीं लगती। यह संगठन *बात कम और काम अधिक* की कार्यशैली में विश्वास करता है।

संदर्भ स्थानांग का

मैं अभी-अभी *स्थानांग* का स्वाध्याय कर रहा था। उसमें चार प्रकार के मेघों का वर्णन है—

चत्तारि मेहा पण्णत्ता, तं जहाह

- गज्जित्ता णाममेगे, णो वासित्ता।
- वासित्ता णाममेगे, णो गज्जित्ता।
- एगे गज्जित्तावि, वासित्तावि।
- एगे णो गज्जित्ता, णो वासित्ता।

ह्र मेघ चार प्रकार के होते हैं—

- कुछ मेघ गरजते हैं, किंतु बरसते नहीं।
- कुछ मेघ बरसते हैं, किंतु गरजते नहीं।
- कुछ मेघ गरजते भी हैं और बरसते भी हैं।
- कुछ मेघ न गरजते हैं और न बरसते हैं।

मैं संगठनों और संस्थानों को भी इन्हीं चार रूपों में देखता हूँ—

- कुछ संगठन-संस्थान बातें खूब करते हैं, किंतु काम नहीं करते।
- कुछ संगठन-संस्थान काम करते हैं, किंतु बातें नहीं करते।

- कुछ संगठन-संस्थान काम भी करते हैं और बातें भी।
- कुछ संगठन-संस्थान न काम करते हैं और न बातें करते हैं।

मैं देख रहा हूँ कि आज बहुलांश में काम कम और बात अधिक की स्थिति बन रही है। ऐसी स्थिति में जो कोई भी संगठन अपने कार्य को प्रमुखता देते हुए आगे बढ़ रहा है, वह लोगों के लिए आकर्षण और प्रशंसा का पात्र बनता है। राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में जब मैं देखता हूँ, तब मुझे लगता है कि आज संगठन की अत्यधिक अपेक्षा है। पिछले वर्षों भारत और पाकिस्तान में युद्ध हुआ। उस समय तो ऐसा लग रहा था कि भारतवर्ष एक अटूट और अखंड संगठन के रूप में निबद्ध है, किंतु युद्ध की समाप्ति के साथ ही वैमनस्य, ईर्ष्या, लड़ाई, एक-दूसरे को गिराने और काटने की चेष्टा आदि प्रवृत्तियां पुनः उभर आईं। राष्ट्र की एकता और विकास की दृष्टि से यह स्थिति अच्छी नहीं है।

मैं सोचता हूँ कि राष्ट्रीय एकता के लिए एक राष्ट्रीय आचार-संहिता की आवश्यकता है। अणुव्रत अपने-आपमें एक व्यवस्थित एवं संतुलित राष्ट्रीय आचार-संहिता है। उससे विभक्त मानवता एक हो सकती है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सदस्य चरित्र में विश्वास करते हैं। चूंकि अणुव्रत चरित्र-विकास के लक्ष्य की व्यापक कार्य-योजना पर काम कर रहा है, अतः उसके (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के) प्रत्येक सदस्य को अणुव्रती बनना चाहिए।

अप्पयपैट्ट

६ फरवरी १९६९

३१ : अणुव्रत चरित्र की गंगा है

आज हम आपके गांव में आए हैं। गांव का नाम है पापनाशनम। क्या आप पापनाशनम का तात्पर्य समझते हैं? पापनाशनम का तात्पर्य हैहृपापों का नाश करनेवाला। वस्तुतः ही नाम बहुत सुंदर है। किंतु केवल नाम सुंदर होने की तब तक विशेष सार्थकता नहीं, जब तक कि काम भी उसके अनुरूप सुंदर न हो। क्या नाम के अनुरूप यहां के निवासी वास्तव में पापों का नाश करनेवाले हैं? यदि पापनाशनम पापों का नाश करनेवाला है तो क्या यह पुराने कर्मों, पापों का ही नाश करता है अथवा नए पाप-बंधन को भी रोकता है? तात्त्विक दृष्टि से यदि हम विचार करें तो हमें यह मानना होगा कि पुराने कर्मों के नष्ट होने के साथ-साथ जब तक नए कर्मों का बंधन नहीं रुकेगा, तब तक कोई भी प्राणी कर्मों से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। यानी वर्तमान में होनेवाले कर्म-बंधन को रोककर ही वह कर्म-मुक्त अवस्था में पहुंच सकता है। और जब तक वह कर्म-मुक्त अवस्था में नहीं पहुंच जाता, तब तक दुःख से भी मुक्त नहीं हो सकता। प्रश्न किया जा सकता हैहृ'दुःख क्या है?' जन्म, मृत्यु, रोग, बुढ़ापा आदि सब दुःख ही तो हैं। आपने पढ़ा होगा कि एक बूढ़े व्यक्ति को देख राजकुमार सिद्धार्थ (महात्मा गौतम बुद्ध) उद्विग्न हो गया। उसने स्वप्न में भी कभी कल्पना नहीं की थी कि आदमी बूढ़ा होता है। इसी प्रकार मृत्यु-प्राप्त व्यक्ति को देखकर भी वह उद्विग्न बन गया। उसे इस बात की भी कल्पना नहीं थी कि किसी प्राणी को मरना भी पड़ता है। इस प्रकार की उद्विग्नता ने उसे संसार से विरक्त बना दिया और वह राजमहल, पत्नी, परिवार सबका परित्याग कर संन्यासी बन गया। यह दुःखों से, पापों से, कर्मों से मुक्त होने का अपने ढंग से प्रयास था। दूसरे शब्दों में स्वयं को सुधारने के मार्ग पर अभिनिष्क्रमण था। 'अणुव्रत' भी स्वयं को सुधारने का राजपथ है। रूपक की भाषा में हम इसे चरित्र की गंगा कह सकते हैं। आप लोग इस गंगा में स्नान करें। आपके गांव का पापनाशनम नाम सार्थक हो जाएगा।

पापनाशनम, ५ फरवरी १९६९

३२ : अणुव्रत और सर्वोदय एक-दूसरे के पूरक हैं

मनुष्य जाति एक है

सर्वोदयी कार्यकर्ताओं के बीच आकर मुझे प्रसन्नता है। आप लोग सर्वोदय की बात करते हैं, उस क्षेत्र में कार्य करते हैं। मैं समझता हूँ कि इस क्षेत्र में कार्य करनेवालों के दिमाग में इस बात की स्पष्टता होनी चाहिए कि संपूर्ण मानव-जाति एक है। हालांकि राष्ट्र, प्रांत, भाषा, संस्कृति, रंग, लिंग, धर्म, संप्रदाय, विचार आदि दृष्टियों से मनुष्य-मनुष्य में भिन्नता भी हो सकती है, होती है, तथापि मानवता की दृष्टि से सब मनुष्य समान हैं। मूलतः एकता और अनेकता दोनों अलग-अलग तत्त्व हैं और दोनों का अपना-अपना उपयोग भी स्पष्ट है, पर कठिनाई वहां पैदा हो जाती है, जहां एकता को अनेकता और अनेकता को एकता बना दिया जाता है। इस संदर्भ में सभी कार्यकर्ताओं को गंभीरता से चिंतन करने की अपेक्षा है।

धार्मिक जगत की स्थिति

मैं एक धर्मक्षेत्र का व्यक्ति हूँ। धार्मिक लोगों को निकटता से देखने-समझने का अवसर मुझे मिलता रहता है। वर्तमान में उनकी स्थिति मुझे विचित्र-सी लगती है। विचित्र-सी इस अर्थ में कि वे धार्मिक तो कहलाना चाहते हैं, किंतु धर्म का जीवन में प्रयोग नहीं करते। हालांकि कुछ व्यक्ति इसके अपवाद भी होते हैं, किंतु बहुलांश में यह स्थिति है, ऐसा कहने में मुझे कोई कठिनाई नहीं। यह तो स्पष्ट ही है कि जब वे लोग जीवन में धर्म का प्रयोग ही नहीं करते, तब उनके आचार, विचार और व्यवहार में उसकी प्रतिच्छाया दिखाई देने का प्रश्न ही नहीं है। इस संदर्भ में बड़ी कठिनाई यह है कि वे लोग उपासना और क्रियाकांडों को ही धर्म मान बैठे हैं। आचारात्मक धर्म को वे कोई महत्त्व का तत्त्व नहीं समझते। ऐसी स्थिति में उनका चारित्रिक एवं नैतिक पतन हो रहा है। यह तो आप लोग स्वयं भी

अनुभव करते होंगे कि समाज के प्रायः सभी वर्गों में अनैतिकता व्याप्त हो गई है।

दूसरी बात यह है कि हमारे समक्ष अनेक धर्म हैं और हर धर्म की अपनी स्वतंत्र उपासना-विधि है। हर-एक धर्म का अनुयायी अपनी उपासना-पद्धति को श्रेष्ठ मानता है। वह दूसरे धर्म की उपासना-पद्धति को स्वीकार करना नहीं चाहता।

अणुव्रत आचारप्रधान है

ऐसी स्थिति में मेरे मन में यह विचार आया कि लोगों को एक ऐसा मार्ग दिखाना चाहिए जो एक तरफ सबको समान रूप से स्वीकार्य हो तथा दूसरी ओर अनैतिकता, भ्रष्टाचार और चारित्रिक पतन ही समस्या को भी सुंदर ढंग से समाहित कर सके। काफी चिंतन-मनन करने के बाद हमने उपासना का पक्ष गौण कर आचार-पक्ष को आधार बनाया, क्योंकि इस आचार-पक्ष में सभी धर्मावलंबी एकमत हैं। कोई भी धर्म सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि तत्त्वों को बुरा नहीं बताएगा। अलबत्ता इनकी व्याख्या में कुछ-कुछ भेद भी हो सकता है, किंतु मूल में कोई अंतर नहीं है। धर्म के इस आचार-पक्ष के आधार पर हमने एक आचार-संहिता तैयार की और उसका नाम रखाहअणुव्रत। इसे हमने एक आंदोलन का रूप दिया और इस आंदोलन के साथ जन-जन को जोड़ने के लक्ष्य से भारत के विभिन्न प्रांतों की पदयात्रा की। पर हमारे समक्ष एक आशंका अथवा कठिनाई थीह इस आंदोलन के प्रवर्तक का एक संप्रदायविशेष का आचार्य होना; उसके मुंह पर मुखवस्त्रिका और हाथ में रजोहरण होना। इस स्थिति में हमें देखते ही लोग कहेंगे कि यह तो कोई सांप्रदायिक आंदोलन है। लेकिन फिर हमारे मन में यह विचार आया कि जब विनोबाजी की दाढ़ी उनके कार्य में बाधक नहीं बनती, तब हमारी वेशभूषा भी हमारे इस कार्य में बाधक क्यों बनेगी। तब हमने अणुव्रत का कार्य शुरू कर दिया। अब यह कठिनाई काफी रूप में हल हो चुकी है। लोग समझने लगे हैं कि अणुव्रत एक असांप्रदायिक नैतिक आंदोलन है।

अणुव्रत और सर्वोदय

अणुव्रत के लिए यह कहना भी अन्यथा नहीं होगा कि यह एक स्वस्थ नागरिकता की आचार-संहिता है। इसके आधार पर हम संपूर्ण विश्व में मानवता की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। किंतु यह संभव तभी है, जब इसे

सबका सहयोग प्राप्त हो। मेरी दृष्टि में अणुव्रत और सर्वोदय दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। किंतु कार्यकर्ताओं के परस्पर न मिलने के कारण कभी-कभी लोगों को दोनों में विभेद नजर आता है। गत वर्ष जब मैं मद्रास (चेन्नई) में था, तब एक विशेष दिवस मनाया गया था। उसमें अणुव्रती कार्यकर्ता और सर्वोदयी कार्यकर्ता आपस में मिले और अच्छी चर्चा चली। बहुत-से अणुव्रती सर्वोदयी बने और बहुत-से सर्वोदयी अणुव्रती। आज के इस कार्यक्रम को उसी की एक अगली कड़ी मान लेना चाहिए। मैं चाहता हूँ कि समय-समय पर ऐसे कार्यक्रम हों, जिनमें अणुव्रती और सर्वोदयी कार्यकर्ता परस्पर मिलें और विस्तृत चर्चा-वार्ता कर देश की जनता के नैतिक एवं चारित्रिक विकास का मार्ग प्रशस्त करें।

गांधी भवन, बेंगलुरु

१० अगस्त १९६६

३३ : नैतिकता और अणुव्रत*

अणुव्रत-आंदोलन दो दशक पूरे कर तीसरे दशक में प्रवेश कर रहा है। गत दो दशकों में उसने जो किया है, वह उसकी शक्ति के संदर्भ में पर्याप्त है, पर अपेक्षा के संदर्भ में पर्याप्त नहीं है। आज के विश्व को नैतिकता की बहुत अपेक्षा है। उसकी पूर्ति के लिए जो कार्य किया, उससे हजारगुना कार्य करना जरूरी है। अगले दशक में अधिक त्वरता से अधिक कार्य करना है, इसी संकल्प के साथ हम उसका अभिनंदन कर रहे हैं।

अनैतिकता की समस्या

अनैतिकता की समस्या समाज की स्थायी समस्या है। वह अतीत में रही है, आज है और भविष्य में नहीं रहेगी, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मनुष्य के मन में अपने और पराए का भेद बद्धमूल है। वह अपनी सुख-सुविधा के लिए दूसरों की सुख-सुविधा की उपेक्षा करता है। वह अपनी पूजा-प्रतिष्ठा के लिए दूसरों से अतिरिक्त बनने की स्थिति उत्पन्न करता है। ये दोनों कारण उसकी अनैतिकता के मूल स्रोत हैं।

अनैतिकता की समस्या है और वह मनुष्य की अपरिमार्जित आकांक्षा से जीवित है। उसे मानवीय आकांक्षा को परिमार्जित करके ही सुलझाया जा सकता है। स्व और पर की दूरी जितनी कम होती है, उतनी ही अनैतिकता कम हो जाती है। इसी सत्य को ध्यान में रखकर अणुव्रत-आंदोलन के परिपार्श्व में मानवीय एकता का स्वर उद्घोषित किया गया।

जिन लोगों में राष्ट्रीय एकता की अनुभूति प्रबल हुई है, वे लोग नैतिकता के क्षेत्र में दो कदम आगे बढ़े हैं। जिनके साथ अपनत्व का तार जुड़ जाता है, उनके प्रति अनैतिकता का व्यवहार नहीं किया जा सकता। अनैतिक व्यवहार भेद की अनुभूति में ही होता है।

*अणुव्रत के २०वें वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर प्रदत्त उद्बोधन

जातीय, सांप्रदायिक और राष्ट्रीय सीमाएं व्यापक किए बिना मानवीय एकता का विचार आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। इस दृष्टि से अणुव्रत-आंदोलन ने जनता के सामने एक चिंतन-सूत्र प्रस्तुत किया। वह यह है 'हैं' में सबसे पहले मनुष्य हूं, फिर और-और हूं। इसलिए मैं दूसरे मनुष्यों के साथ मनुष्य की भूमिका का अतिक्रमण करनेवाला कोई व्यवहार नहीं करूंगा।'

इस व्यापक अनुभूति के द्वारा अनैतिकता की पकड़ शिथिल की जा सकती है।

नैतिक विकास में धार्मिक अवरोध

'यह अंधकार सूर्य ने फैलाया है' इस वाक्य में जितना अंतर्विरोध है, उतना ही अंतर्विरोध इसमें है कि धर्म ने अनैतिकता को पाला-पोसा है। सूर्य से अंधकार नष्ट होता है और धर्म से अनैतिकता समाप्त होती है, फिर भी धर्म की वर्तमान धारणा ने ऐसा नहीं किया है, बल्कि इससे विपरीत किया है। धार्मिक लोगों ने धर्म का उपयोग नैतिकता के अस्त्र के रूप में नहीं, किंतु अनैतिकता पर पर्दा डालने के रूप में किया है। एक ओर जीवन में धर्म चलता है और दूसरी ओर अनैतिक व्यवहार चलता है। अनैतिक व्यवहार इस धारणा के आधार पर चलता है कि उसके बिना एक गृहस्थ का काम नहीं चलता। धर्म इस धारणा से चलता है कि जीवन में जो भी अनुचित कार्य होता है, उसका धर्म के प्रभाव से फल न मिले। इसका अर्थ यही हुआ कि जीवन में अनैतिकता भी चलती रहे और धर्म भी चलता रहे। क्या यह सूर्य से फैलेवाला अंधकार नहीं है? क्या यह धर्म से पलने-पुसनेवाली अनैतिकता नहीं है?

अणुव्रत-आंदोलन ने धर्म के क्षेत्र में फैली हुई ऐसी अनेक भ्रांत धारणाओं का निरसन किया है और जनता को यह समझाने का प्रयत्न किया है कि धर्म की पहली कक्षा नैतिकता है। जिस व्यक्ति ने नैतिकता की कक्षा में प्रवेश नहीं पाया है, वह धर्म की अगली कक्षा में प्रवेश नहीं पा सकता।

अणुव्रत-आंदोलन ने नैतिक विकास के लिए धर्म-क्रांति का आह्वान किया है।

विचार-क्रांति की मंजिल

गत दो दशकों में हमने विचार-क्रांति की मंजिल तय की है। इस अवधि में मैंने, मेरे सहयोगी साधु-संघ ने और अणुव्रत के कार्यकर्ताओं ने लंबी-लंबी यात्राएं की हैं। अनैतिकता की समस्याओं का अध्ययन किया है,

उन पर विमर्श किया है और इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि अनैतिकता केवल परिस्थिति की उपज नहीं है। मनुष्य की स्वार्थी मनोवृत्ति, अनैतिक आचरण के परिणाम का अज्ञान और त्रुटिपूर्ण सामाजिक व राजकीय व्यवस्थाहृये सब मिलकर अनैतिकता को जन्म देते हैं। केवल व्रत (अध्यात्म) से नैतिकता विकसित हो जाएगी, ऐसा भी प्रतीत नहीं होता। स्वार्थ का विसर्जन, नैतिकता के लाभ का बोध और सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था के होने पर नैतिकता विकसित हो सकती है। इस पूरी प्रक्रिया से पूर्व विचार-क्रांति की आवश्यकता है। जनता का मानस बदले बिना किसी परिवर्तन की संभावना नहीं की जा सकती। अणुव्रत-आंदोलन ने नैतिक विकास के लिए विचार-क्रांति की है और जनता को अनैतिकता और नैतिकता के परिणामों पर विचार करने के लिए प्रेरित किया है। मैं समझता हूं कि इस मंजिल को हम एक सीमा तक पार कर चुके हैं। अब हमें अगली मंजिल के लिए तैयारी करनी चाहिए।

संघर्ष की तैयारी

स्वयं नैतिक बन जाना अच्छी बात है, पर आज के समुदायनिष्ठ सामाजिक जीवन में पर्याप्त नहीं है। यदि नैतिक व्यक्ति में अनैतिकता से लड़ने की शक्ति नहीं आई तो अनैतिकता नैतिकता को कभी आगे नहीं आने देगी। शक्ति नैतिक लोगों के हाथ में हो, नैतिक विकास के लिए यह अत्यंत जरूरी है। अर्थ और सत्ता की शक्ति अनैतिकता के हाथ में जाए और नैतिकता में निष्ठा रखनेवाले चाहें कि नैतिकता का विकास हो, यह कैसे संभव होगा? आकर्षण का केंद्र वही होगा, जिसके पास शक्ति है और विकास भी उसी का होगा, जिसके प्रति जनता का आकर्षण है। नैतिकता के प्रति इसलिए जनता का आकर्षण नहीं है कि शक्ति का बहाव उसकी ओर नहीं है। क्या इस स्थिति को बदलना जरूरी नहीं है? यदि है तो क्या संघर्ष के बिना उसे बदला जा सकता है? यदि नहीं बदला जा सकता तो क्या नैतिकता का स्वप्न देखनेवालों को संघर्ष के लिए तैयार नहीं रहना चाहिए? मुझे विश्वास है कि इस प्रश्न का उत्तर कोई भी चिंतनशील व्यक्ति नकार में नहीं देगा।

संघर्ष कैसे किया जाए

अनैतिकता के साथ संघर्ष करने की पद्धति भी नैतिक होनी चाहिए। उसका पहला कदम हैहस्वार्थी का विसर्जन करने की क्षमता।

दूसरा हैहप्रेम और मैत्री का विकास। जिनके प्रति संघर्ष करना है,

उनके प्रति हृदय में अगाध प्रेम और मैत्री का भाव होना चाहिए।

तीसरा हैहकठोर संयम और कष्ट-सहिष्णुता।

चौथा हैहधैर्य और मानसिक संतुलन।

पांचवां हैहविवेकपूर्ण निर्णय और मार्ग-दर्शन। इस पद्धति के सहारे अनैतिकता के विरुद्ध संघर्ष करनेवाले कुछ-एक लोग आगे आए तो शक्ति-संतुलन नैतिकता के हाथों में होगा।

अणुव्रत-संवाहक दल

मैं जिस मंजिल की चर्चा करता हूँ, वह विचार-क्रांति के बाद की मंजिल है। तीसरे दशक में आंदोलन को इसकी ओर बढ़ाना है। आज मैं केवल उसकी ओर इंगित कर रहा हूँ। उसका पूरा कार्यक्रम तभी निर्धारित होगा, जब इस कार्य के लिए समर्थ अणुव्रत-संवाहकों का एक दल तैयार हो जाएगा। दशक के प्रारंभ में हमें 'अणुव्रत-संवाहक दल' का निर्माण करना है। अणुव्रती में अनैतिकता से बचने की शक्ति हो, यह स्वाभाविक बात है। किंतु प्रत्येक अणुव्रती में अनैतिकता से संघर्ष करने की क्षमता की संभावना नहीं की जा सकती। यह क्षमता उन्हीं लोगों में होगी, जो संवाहक का जीवन स्वीकार करेंगे। अणुव्रत के संदर्भ में सेवा का अर्थ होगाहअपने और पराए की दीवार तोड़कर मनुष्य-मात्र में अपनेपन का अनुभव करना और सबके साथ अपनत्व का व्यवहार करना।

अणुव्रत-संवाहक प्रत्येक सामाजिक सहयोग को एक परिवार या भाईचारे की भावना के आधार पर संपन्न करेगा। उसके सामने आदर्श होगा कि सब मनुष्य एक ही परिवार के सदस्य हैं। असमर्थ सदस्य को सहारा देना उसी भावना पर अवलंबित होगा, जिसके सहारे बड़ा भाई छोटे भाई को सहारा देता है। अणुव्रत-संवाहक अपने को उसी परिवार का एक सदस्य मानेगा, जिस परिवार के लोग उसके सहयोग की अपेक्षा रखते हैं। मेरा दृढ़ अभिमत है कि इस कोटि का संवाहक इतनी नैतिक शक्ति अर्जित कर लेगा कि उसके सामने अर्थ और सत्ता की शक्ति अभिभूत हो जाएगी। अणुव्रत-कार्यकर्ताओं को अब इस दिशा में प्रयत्न करना होगा और मुझे विश्वास है कि उनके प्रयत्न बहुत सफल होंगे।

गतिशील प्रक्रिया

अणुव्रत-आंदोलन सतत गतिशील प्रक्रिया है। चूंकि वह किसी परंपरा

या उपासना-पद्धति से आबद्ध नहीं है, इसलिए वह व्यापक है। इसमें उन लोगों के लिए अधिक अवकाश है, जो व्यापक दृष्टि से सोचते हैं। जातीयता और सांप्रदायिकता के कटु परिणाम हमने देखे हैं। उनके कारण धर्म भी दूषित-सा हो रहा है।

वर्तमान का राजनीतिक वातावरण भी स्वस्थ नहीं है। मैं जब विगत वर्ष की घटनाओं का सिंहावलोकन करता हूं, तब मुझे लगता है कि संकल्पी हिंसा (प्रयोजनशून्य हिंसा) की गति तीव्र हो रही है। महात्मा गांधी ने दो दशक तक जहां से अहिंसा का संदेश दिया, उसी *साबरमती आश्रम* के आसपास सांप्रदायिकता का भद्दा प्रदर्शन हुआ और वह तब हुआ, जब महात्मा गांधी की जन्म-शताब्दी मनाई जा रही थी और उनके अहिंसा-संदेश का विदेशों तक में प्रसार किया जा रहा था।

इस प्रकार की घटनाओं को देखकर क्षणभर के लिए पैर रुक जाते हैं। गांधीजी के प्रयत्नों का यह परिणाम आया, तब क्या हमारे प्रयत्नों का इससे भिन्न परिणाम आएगा? फिर दूसरे क्षण सोचता हूं कि मनुष्य अपूर्ण है, उसे सहज ही पूर्ण नहीं बनाया जा सकता, किंतु उसकी अपूर्णता के सामने पूर्णता की दिशा न खोली जाए तो वह अधिक भयंकर हो सकती है। यदि हमारे पूर्वजों ने अहिंसा के प्रयत्न न किए होते तो संभवतः मनुष्य और अधिक क्रूर हो जाता। इस चिंतन से यह प्रेरणा मिलती है कि हमें अहिंसा और अपरिग्रह की दिशा को उन्मुक्त करना चाहिए और वर्तमान परिस्थिति के संदर्भ में और तीव्रता से करना चाहिए।

प्रस्तुत अधिवेशन

पिछला अधिवेशन मद्रास (चेन्नई) में हुआ था। यह बेंगलोर (बैंगलुरु) में हो रहा है। मद्रास (चेन्नई) से बेंगलोर (बैंगलुरु) दूर नहीं है, पर हम बहुत लंबी दूरी तय कर यहां पहुंचे हैं। पूरी यात्रा में हमने देखा कि अणुव्रत के प्रति जनता में आकर्षण है। बहुत-से लोग नैतिक विकास के लिए उत्सुक हैं। उन्हें यदि सहज मार्ग-दर्शन मिले तो वे इस दिशा में आगे बढ़ सकते हैं। अणुव्रत-कार्यकर्ताओं की शक्ति और साधन-सामग्री सीमित है, इसलिए बहुत बड़ा काम उठा लेना भी संभव नहीं है, पर जितना भी कार्य हो, वह यदि सुनियोजित व व्यवस्थित ढंग से हो तो अल्प प्रयत्न भी बहुत अच्छा परिणाम ला सकते हैं।

अणुव्रत-आंदोलन के प्रसार में जो प्रमुख शक्ति काम कर रही है, वह साधु-साध्वी समाज की है। उसके वर्ग सुदूर क्षेत्रों में जाते हैं और जनता को अणुव्रत की ओर आकृष्ट करते हैं। इस वर्ष भी अनेक वर्गों ने अच्छा काम किया है। अणुव्रत के कार्यकर्ता कार्य करते हैं, पर यह कहना अयथार्थ नहीं होगा कि वे अपने निजी कार्यों में इतने व्यस्त हैं कि आंदोलन के लिए सीमित ही समय निकाल पाते हैं। अब यह बहुत जरूरी हो गया है कि कुछ कार्यकर्ता अपने स्वार्थों का विसर्जन कर आगे आए।

दूसरे समानधर्मी आंदोलन के द्वारा भी इस वर्ष हमें अच्छा समर्थन और सहयोग मिला है। वल्लभ-निकेतन (सर्वोदय आश्रम) में हमारा चातुर्मासिक प्रवास उसी का एक उदाहरण है। मैं चाहता हूँ कि इस दिशा में हमारा सौजन्य और बढ़ना चाहिए और समान दिशा में हमारे कदम एक साथ आगे बढ़ने चाहिए।

तमिलनाडु, केरल व मैसूर की राज्य-सरकारों ने अणुव्रत के व्यापक स्वरूप का यथार्थ मूल्यांकन किया, उसके प्रसार को मानवता के हित में माना और उसे उचित सुविधाएं दीं, यह सब आंदोलन के लिए तुष्टि का विषय है।

तमिलनाडु, केरल व मैसूर के समाचार-पत्रों ने आंदोलन के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से मैं काफी सहयोग किया है। उत्तर भारत के समाचार-पत्रों ने भी इस दिशा में कार्य किया है। मुझे लगता है कि यह समय की मांग है, मानवता की अपेक्षा है। इसलिए सभी वर्गों के लोग इसमें हमारा सहयोग कर रहे हैं। मुझे विश्वास है कि जैसे-जैसे हमारा कार्य आगे बढ़ेगा, वैसे-वैसे जनता का सहयोग भी बढ़ता जाएगा। यह सबका कार्य है, सबके हित में है और सबके द्वारा होने का है। इस वर्ष में इसकी अनेक दिशाएं उद्घाटित होंगी।

बेंगलुरु

१८ अक्टूबर १९६६

३४ : मानवता के उत्थान के लिए अणुव्रत

हम जैन-साधु हैं। मानवता के उत्थान के लिए कार्य कर रहे हैं। आप देख ही रहे हैं कि आज का मानव मानवता को भूलता जा रहा है। मानवता के बिना कैसा मानव! मानवता की प्रतिष्ठा और उत्थान के लिए हमने अणुव्रत का सूत्रपात किया है। हर जाति, संप्रदाय एवं वर्ग के लोग अणुव्रती बन सकते हैं। हमारा द्वार सबके लिए खुला हुआ है। जो लोग नैतिकता में विश्वास करते हैं, अहिंसा में विश्वास करते हैं, अणुव्रत उन्हें संगठित रूप में देखना चाहता है। हमारा लक्ष्य किसी को जैन बनाना नहीं, हम तो हर-एक व्यक्ति को अच्छे मनुष्य के रूप में देखना चाहते हैं।

आप सोचते होंगे कि स्वामीजी को दक्षिणा में रुपए देने होंगे। नहीं, हम आपसे रुपए नहीं चाहते। हम तो आपसे आपकी प्रिय चीजें मांगते हैं। बीड़ी, सिगरेट तथा शराब मांगते हैं। आप कहेंगे 'ये तो बुरी चीजें हैं, प्रिय चीजें कैसे?' मैं कहता हूँ कि एक व्यक्ति पचासों रुपए दक्षिणा में दे सकता है, परंतु यदि वह शराब पीता है तो भविष्य में शराब न पीने का संकल्प करना उसके लिए बहुत कठिन हो जाता है। आप सोचें कि उसके लिए शराब प्रिय हुई या नहीं।

आज का मनुष्य अनैतिक एवं क्रूर कर्म करता हुआ भी भगवान के दर्शन करना चाहता है। इसके लिए वह इधर-उधर भटकता भी है, परंतु उसे ईश्वर कैसे मिलेगा? दुकान पर बैठकर लोगों को उगो, ऑफिस में बैठकर रिश्त ले और फिर ईश्वर के दर्शन भी करना चाहे, यह कैसे संभव है?

प्रभु-दर्शन

एक व्यक्ति एक महात्माजी के पास पहुंचा। उसने महात्माजी से प्रार्थना की कि आप मुझे ईश्वर के दर्शन कराएं। महात्माजी ने उसे समझाया कि तुम अपनी आत्मा को पवित्र बनाओ। पवित्र आत्मा में भगवान स्वयं प्रकट हो जाते हैं। परंतु वह दर्शन कराने का बार-बार आग्रह करता ही रहा।

तब महात्माजी ने कहाह 'कल आ जाना, ईश्वर के दर्शन करा दूंगा।' दूसरे दिन वह व्यक्ति पुनः महात्माजी के पास आया। महात्माजी ने उसे पांच-पांच सेर के पांच पत्थर दिए और आदेश की भाषा में कहाह 'इन पत्थरों को अपने सिर पर रखकर मेरे साथ सामनेवाले पहाड़ की चोटी पर चलो।' उस व्यक्ति ने पांचों पत्थर अपने सिर पर रखे और चढ़ाई शुरू कर दी। पर वह दस कदम भी नहीं चला होगा कि थक गया। उसने महात्माजी से कहाह 'अब चढ़ा नहीं जाता।' महात्माजी ने कहाह 'एक पत्थर फेंक दो।' वह एक पत्थर फेंककर पुनः आगे बढ़ा, फिर भी वह ज्यादा चढ़ाई नहीं चढ़ पाया। इस प्रकार एक-एक करके सारे पत्थर महात्माजी ने फेंकवा दिए। अब वह व्यक्ति आसानी से चोटी पर चढ़ने लगा। चोटी पर पहुंचते ही उसने महात्माजी से पुनः कहाह 'अब तो भगवान के दर्शन करा दीजिए।' महात्माजी ने कहाह 'जिस प्रकार तुम इन पांचों पत्थरों को सिर पर रखकर पहाड़ पर नहीं चढ़ पाए, उसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ, माया, अभिमान आदि जो पत्थर तुमने अपने जीवन पर लाद रखे हैं, उन्हें बिना फेंके भगवान के दर्शन कैसे होंगे?' अब उस व्यक्ति को सारी बात समझते देर नहीं लगी। वह महात्माजी के सम्मुख नतमस्तक हो गया। इसलिए मैं भी प्रवचन-प्रवचन में यह कहता हूँ कि मनुष्य को अपना जीवन पवित्र बनाना चाहिए। अणुव्रत जीवन को पवित्र बनाने का सीधा राजपथ है, सरल उपाय है।

३५ : अणुव्रत में आस्तिक-नास्तिक का भेद नहीं है

मैं तमिलनाडु से केरल प्रदेश की राजधानीहन्नविंद्रम आया हूँ। हालांकि तमिलनाडु और केरल दोनों परस्पर सटे हुए हैं, तथापि इनकी प्रकृति एक-सरीखी नहीं है, भिन्नता है। जहां तमिलनाडु भक्तिमय है, वहीं केरल तर्कमय। किंतु मेरे इस कथन का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि तमिलनाडु एकांततः श्रद्धा-भक्तिमय है, वहां बौद्धिकता बिलकुल भी नहीं है तथा केरल में मात्र तार्किकता और बौद्धिकता है, श्रद्धा-भक्ति बिलकुल भी नहीं। तमिलनाडु में भी तार्किकता और बौद्धिकता है तथा केरल में भी श्रद्धा-भक्ति है, तथापि यह कहने में कोई कठिनाई नहीं कि तमिलनाडु में श्रद्धा-भक्ति का प्राधान्य है और केरल में तर्क और बुद्धि का।

श्रद्धा-भक्ति और तर्क-बुद्धि का समन्वय

मैं श्रद्धा-भक्ति और तर्क-बुद्धि दोनों के मध्य हूँ। दोनों का समन्वय करना चाहता हूँ। दो विरोधी धर्मों के सह-अस्तित्व का सिद्धांत भगवान महावीर ने ढाई हजार वर्ष पूर्व हमें बताया था। आप लोग कह सकते हैंहैं‘जब महावीर और बुद्ध भी श्रद्धा और तर्क में समन्वय स्थापित नहीं कर सके, तब आप कैसे कर सकेंगे?’ यह बिलकुल ठीक है कि मैं न तो महावीर हूँ, न बुद्ध और न गांधी। मैं तो छोटा-सा तुलसी हूँ। बावजूद इसके, मैं किंचित भी निराश-हताश नहीं हूँ। अपने सामर्थ्य के अनुसार मैं अपना प्रयास कर रहा हूँ। और मेरा तो ऐसा मानना भी है कि अपनी शक्ति का प्रयोग-उपयोग हर व्यक्ति को करना ही चाहिए। मैं भले सूरज की भूमिका नहीं निभा सकता, पर दीपक की भूमिका तो निभा ही सकता हूँ।

मैं धार्मिक लोगों से कहना चाहता हूँ कि वे मात्र धर्म और भगवान से सब-कुछ प्राप्त करने की मनोवृत्ति का परित्याग करें। दूसरी तरफ जो तर्कवादी हैं, बौद्धिक हैं, उनसे कहना चाहता हूँ कि वे तर्क और बौद्धिक व्यायाम को सब-कुछ मानते हुए धर्म को मिटाने की जो बात सोच रहे हैं,

वह उपयुक्त नहीं है। धर्म न कभी मिटा है और न कभी मिटने का है। तर्क और बुद्धि की ज्ञान-प्राप्ति में बेशक उपयोगिता है, पर उनकी अपनी सीमाएं हैं। उन सीमाओं को समझकर उन्हें वहीं तक महत्त्व देना चाहिए। इस परिप्रेक्ष्य में उन्हें अपना आत्म-निरीक्षण करने की अपेक्षा है।

अणुव्रत में समानाधिकार है

मैंने सार्वजनीन धर्म के रूप में अणुव्रत का अभियान चला रखा है। उसमें एक धार्मिक और आस्तिक को जितना स्थान प्राप्त है, उतना ही स्थान एक नास्तिक को भी है। किसी को अधिक नहीं, किसी को कम नहीं, क्योंकि उसमें केवल मानवता के निर्माण और नैतिकता के विकास की बात है। आस्तिक और धार्मिक के लिए वह जितना आवश्यक और उपयोगी है, उतना ही आवश्यक एवं उपयोगी एक नास्तिक व अपने-आपको अधार्मिक माननेवाले के लिए है। यदि गहराई से देखा जाए तो अणुव्रत तो सुख और शांतिपूर्वक जीने की कला है। भला सुख और शांति की आकांक्षा किसे नहीं है!

मैंने अणुव्रत के माध्यम से मानवता के निर्माण और नैतिकता के विकास की बात कही। यों तो राजनीतिक लोग भी इसकी बहुत लंबी-लंबी बातें करते हैं, पर मैं समझता हूं कि वे यह कार्य नहीं कर सकते, क्योंकि वे अपने तुच्छ स्वार्थों से बंधे होते हैं। इस कार्य को संपादित करने की दृष्टि से साधु-संत ही उपयुक्त पात्र हैं, क्योंकि उनका कोई निजी स्वार्थ नहीं होता।

ऐसा कहा जाता है कि श्री परशुराम हिंसा से थककर अंत में अहिंसा की ओर मुड़े। मैं केरल में हिंसक लोगों की थकान मिटाने आया हूं। मुझे आशा है कि केरल का लगभग पचीस दिनों का प्रवास सुखद एवं जन-जागरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होगा।

त्रिवेंद्रम

१५ मार्च १९६६

३६ : साम्यवाद और अणुव्रत

अभी श्री इलंगत (अध्यक्ष, खादी बोर्ड, केरल) द्वारा आप लोगों को बताया गया कि जैन-धर्म अहिंसा के लिए प्रसिद्ध है। यह बिलकुल यथार्थ है। मैं उसी जैन-धर्म के एक संघ का आचार्य हूँ। पर मेरा कार्य-क्षेत्र जैन-समाज तक सीमित नहीं है, बल्कि व्यापक है। मैं मानवता के विकास का उद्देश्य सामने रखकर चल रहा हूँ। मैं इस बात की बहुत तीव्रता से अनुभूति कर रहा हूँ कि मानव मानवता के धरातल से नीचे खिसक रहा है और तेजी से खिसक रहा है। इसलिए सबसे पहला प्रयास यह होना चाहिए कि उसके चरण मानवता की भूमि पर टिके रहें, उससे नीचे न खिसकें।

मानवता के विकास की सही प्रक्रिया

पूछा जा सकता है 'मानवता का विकास कैसे हो?' मानवता का विकास कानून के द्वारा नहीं हो सकता। यह बात बिलकुल स्पष्ट है। फिर इसकी प्रक्रिया क्या हो? मेरी दृष्टि में इसकी एकमात्र प्रक्रिया हृदय-परिवर्तन है। हृदय-परिवर्तन का यह पुण्य काम साधु-संतों ने किया है और आज भी कर रहे हैं, क्योंकि उनके हृदय में स्वार्थ की भावना नहीं होती। जहां स्वार्थ बोलता है, वहां यह कार्य बल नहीं पकड़ता। राजनीति-क्षेत्र के लोग इस उद्देश्य में विफल रहते हैं, इसका कारण यही तो है कि उनके प्रयत्न के पीछे अपना तुच्छ स्वार्थ छुपा रहता है।

कम्यूनिज्म और अणुव्रत

मानवता के विकास या निर्माण के पवित्र उद्देश्य से मैंने देश के अनेक प्रांतों की यात्रा की है। दक्षिण भारत की यात्रा के उद्देश्यों में भी मेरा यह एक मुख्य उद्देश्य है। इस दक्षिण-यात्रा के दौरान जब मैंने केरल आने का निर्णय किया, तब कुछ व्यक्तियों ने मेरे इस निर्णय पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए मुझसे कहा 'आप केरल क्यों जाते हैं? वहां कम्यूनिज्म है। इस स्थिति में वहां एक धर्मगुरु को कौन तो सुनेगा और कौन उनका स्वागत करेगा?' मैंने अत्यंत

स्नेह के साथ उनसे कहाह 'मेरा आत्मविश्वास कहता है कि केरल में हमारा स्वागत और अधिक होगा, क्योंकि कम्यूनिज्म और अणुव्रत के मूल लक्ष्य में कोई विशेष अंतर नहीं है।' आप देखें, कम्यूनिज्म समाज में समानता चाहता और अणुव्रत भी यही चाहता है। बेशक, इतना अवश्य है कि कम्यूनिज्म अपनी लक्ष्यपूर्ति के साधनों में सम्यक-असम्यक अथवा उचित-अनुचित का विभेद नहीं करता। साधन-शुद्धि के सिद्धांत में उसका विश्वास नहीं है। वह जैसे-तैसे यानी शुद्ध-अशुद्ध किसी भी साधन से अपना साध्य प्राप्त कर लेना चाहता है, जबकि अणुव्रत साधन-शुद्धि के सिद्धांत में विश्वास करता है। वह मात्र शुद्ध साधन से अपने साध्य की प्राप्ति करना चाहता है। यदि कम्यूनिज्म अशुद्ध साधन का परिहार कर दे तो अणुव्रत और उसमें (कम्यूनिज्म में) बहुत-सी बातों की समानता हो जाती है।

मैंने प्रारंभ में मानवता के विकास या निर्माण की बात कही थी। अणुव्रत उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चलाया गया एक अभियान है। मैं चाहता हूं कि केरल में अणुव्रत का केंद्र हो, ताकि इस प्रांत में उसका सुव्यवस्थित ढंग से प्रचार-प्रसार हो सके। आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि अणुव्रत का काम चलेहइस बिंदु पर सभी राजनीतिक दल एकमत हैं, क्योंकि विभिन्न विपरीत विचारधाराओं के बावजूद वे मानवता के निर्माण और नैतिक विकास की बात पर एक स्वर से सहमत हैं।

पाड़साला

१३ मार्च १९६६

३७ : अणुव्रत-भावना की विजय

आदमी अशांत और दुखी क्यों

आज के इस वैज्ञानिक युग में मानव ने सुख-सुविधा के भौतिक साधनों की दृष्टि से अभूतपूर्व और आशातीत प्रगति की है। किंतु इसके बावजूद वह दुखी और अशांत है। यह एक कटु यथार्थ है। आप कहेंगे कि देश में गरीबी है, जनता अशिक्षित है, इसलिए दुःख और अशांति है। लेकिन मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ। यदि गरीबी और शिक्षा की कमी-हृये दोनों स्थितियां ही दुःख और अशांति का वास्तविक कारण होतीं तो अमीर और शिक्षित लोग कभी दुखी और अशांत नहीं होते। पर वे लोग भी दुखी और अशांत हैं, यह हम देखते हैं, अनुभव करते हैं। मेरी दृष्टि में दुख और अशांति का मूलभूत कारण यह है कि आज मानव धर्म और अध्यात्म के मार्ग से च्युत होकर भौतिकवाद के भयंकर जंगल में भटक रहा है। इस भटकाव की स्थिति ने उसे सोचने के लिए बाध्य किया है और वह सुख और शांति की खोज के लिए अभिप्रेरित हुआ है। ऐसी परिस्थिति में जहां-कहीं भी उसे आशा की एक छोटी-सी भी किरण दिखाई पड़ती है, वह उस ओर बड़ी उत्सुकता के साथ झांकता है।

अणुव्रत आत्मानुशासन का मार्ग है

राष्ट्र की जनता की यह हालत देख मैंने अणुव्रत-आंदोलन का सूत्रपात किया। अणुव्रत यानी छोटे-छोटे व्रत। उन व्रतों को स्वीकार कर आदमी अच्छा और सच्चा आदमी बन सकता है। अणुव्रत आत्मानुशासन का मार्ग है। वह जन-जन को आत्मानुशासी बनाना चाहता है। मेरा ऐसा मानना है कि यदि जन-जन में यह आत्मानुशासन की भावना जाग जाए तो राष्ट्र की स्थिति बहुत शीघ्र बदल सकती है। किंतु हालात जिस प्रकार के हैं, उन्हें देखते हुए ऐसा होना बहुत कठिन है। आप देखें, आज तो सत्य, नैतिकता, प्रामाणिकता-जैसे तत्त्वों के प्रति भी लोगों

की आस्था डोल रही है, कम हो रही है। मैं राष्ट्र के नागरिकों से कहना चाहता हूँ कि वे थोड़ा धैर्य से काम लें और अपनी नेक-नीति पर कायम रहें, सत्य और प्रामाणिकता की टेक निभाते रहें। यह लोकोक्ति एक दृष्टि से बहुत यथार्थपरक है कि *भगवान के घर देर हो सकती है, पर अंधेर नहीं है।*

एक अनुकरणीय उदाहरण

आपमें से अनेक व्यक्तियों ने सरदारशहर (चूरू) के सेठ सुमेरमलजी दूगड़ का नाम सुना होगा। नैतिकता और प्रामाणिकता के लिए सेठजी का परिवार पीढ़ियों से सुप्रसिद्ध है। सेठजी-जैसी नैतिकता और प्रामाणिकता हमारे देश में बहुत कम ही देखने को मिलती है। उनके जीवन में ऐसे अनेक अवसर आए, जब उनकी प्रामाणिकता कसौटी पर चढ़ी। इस दौरान उनके समक्ष अनेक प्रकार की मुसीबतें आईं। पर किसी भी परिस्थिति में उन्होंने अपनी प्रामाणिकता की टेक नहीं छोड़ी। अभी हाल की ही एक घटना है। उनके पुराने मकान की खुदाई हो रही थी। उस दौरान जमीन से कुछ सोना निकला। सेठजी ने कानून के अनुरूप अपने पास रहा सारा सोना सरकार को लिखा रखा था। अब चूंकि उन्हें नया सोना प्राप्त हुआ था, अतः उन्होंने प्रामाणिकतापूर्वक सरकारी अधिकारी को इसकी सूचना दी। लेकिन सरकारी अधिकारियों को सेठजी पर संदेह हुआ। उन्होंने वह सोना अपने अधिकार में ले लिया। किंतु अनेक प्रयोगशालाओं में जांच कराने के बाद भी यह निर्णय नहीं हो सका कि यह सोना कितना पुराना है। तब उस सोने पर अंकित चीनी लिपि पर ध्यान केंद्रित करते हुए उन्होंने वह सोना जांच के लिए हांगकांग भेजा। वहां की प्रयोगशाला की जांच में वह सोना कम-से-कम सौ वर्ष पुराना सिद्ध हुआ। प्रयोगशाला से जो रिपोर्ट प्राप्त हुई, वह उस सोने के संदर्भ में सेठजी द्वारा सरकार को दी गई रिपोर्ट से लगभग मिलती थी। कल ही मुझे ज्ञात हुआ कि सरकार सेठजी का वह सारा सोना उन्हें वापस कर रही है। इस प्रकार सेठजी की प्रामाणिकता को किंचित भी आंच नहीं आ सकी, बल्कि यह कहना ज्यादा उपयुक्त होगा कि इस कसौटी पर चढ़कर उनकी प्रामाणिकता और नीति-निष्ठा और अधिक निखर कर सबके सामने आई है। इसे मैं अध्यात्म, धर्म और अणुव्रत-भावना की विजय मानता हूँ। सेठजी ने सचमुच एक आदर्श उपस्थित किया है। न केवल तेरापंथी समाज के लिए, बल्कि पूरे जैन-समाज और उससे भी आगे समग्र

धार्मिक समाज और सकल भारतीय समाज के लिए उनकी यह नीतिनिष्ठा और प्रामाणिकता अनुकरणीय है। मैं आशा करता हूं कि आप लोग भी सेठजी के जीवन के इस घटना-प्रसंग से प्रेरणा लेते हुए नैतिक एवं प्रामाणिक बनने का प्रयत्न करेंगे।

शिमोगा

२१ जून १९६६

३८ : अणुव्रत की शरण

संपूर्ण मैसूर प्रांत में जहां भी हम गए हैं, वहां हमारे विचारों का स्वागत ही नहीं हुआ, बल्कि हजारों लोगों ने अणुव्रत को अपने जीवन में उतारने का संकल्प भी किया है। शिमोगा के सामाजिक कार्यकर्ताओं में भी अच्छा उत्साह देखा गया। शिक्षा के क्षेत्र में यहां अच्छा कार्य हो रहा है। मुझे सबसे बड़ी खुशी इस बात की है कि हमारे कार्यक्रमों में प्रत्येक धर्म, संप्रदाय के लोग प्रसन्नतापूर्वक सम्मिलित हुए हैं। मैं ऐसा ही चाहता हूं। मैं किसी विशेष संप्रदाय के उत्थान की बात नहीं चाहता, बल्कि प्रत्येक मानव को सही मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित करता हूं। मानवता आज खतरे में दिखाई पड़ रही है, क्योंकि भाई अपने भाई का ही दुश्मन बनता जा रहा है। जगह-जगह सांप्रदायिक उपद्रव हो रहे हैं। ऐसे घृणित कार्यों में अनेक लोगों को अपने प्राण छोड़ने पड़ते हैं। ऊंच-नीच तथा अस्पृश्यता आदि की बातें भी सुनने को मिलती हैं। ये स्थितियां देशवासियों के लिए कलंक हैं। इनसे द्वेष बढ़ेगा, हिंसा भड़केगी और रक्तपात होगा। आज आवश्यकता है कि प्रबुद्ध भाई-बहन समाज के सामने आएँ और उसे सही मार्ग पर चलने के लिए प्रेरणा दें। देश-हित के लिए तथा मानव-हित के लिए लोगों को अपने क्षुद्र स्वार्थ छोड़ना आवश्यक है। अणुव्रत की शरण में जाकर ही मनुष्य सच्चा मनुष्य कहलाने का अधिकारी बन सकता है।

शिमोगा (कर्नाटक)

३६ : विसर्जन करना सीखें

दक्षिण-यात्रा का दूसरा चरण आज संपन्न हो रहा है। इस बात से मुझे काफी हलकापन महसूस हो रहा है। यह मेरी पिछली सभी यात्राओं से बड़ी यात्रा हुई है। अब तक दक्षिण-यात्रा के प्रसंग में हम लगभग ४५०० मील (७२०० कि. मी.) चल चुके हैं और पता नहीं आगे कितना चलना होगा। इस यात्रा में संघ के अधिकतर साधु-साध्वियों को आचार्य से जितने अधिक काल तक दूर रहने का प्रसंग बना है, वह संभवतः तेरापंथ के इतिहास में पहला अवसर होगा। साधारणतया प्रायः सभी साधु-साध्वियां वर्ष में एक बार आचार्य से मिल लेते हैं।

मुझे इस बात की परम प्रसन्नता है कि इतनी लंबी यात्रा बहुत सफल और आनंदप्रद रही। यात्रा-काल में मन सदा प्रसन्न रहा और उत्साह बढ़ता रहा। यह यात्रा की सफलता का सबसे बड़ा कारण कहा जा सकता है। यहां आने के बाद मन करता है कि मैं यहां और अधिक घूमूं। यहां क्षेत्रीय अनुकूलता तो है ही, जनता भी बहुत भद्र और अनुकूल है। जैन-दर्शन के प्रति लोगों के हृदय में श्रद्धा और सम्मान की भावना है। जनता का हमारे प्रति निष्कारण स्नेह और भक्ति देखकर सचमुच मैं विस्मित रह जाता हूं। यद्यपि हमारे सामने भाषा की कठिनाई थी, फिर भी कार्य बहुत अच्छा हुआ। यदि मैं यहां की भाषा जानता तो शायद और भी ज्यादा कार्य होता।

यात्रा में साधु-साध्वियों तथा श्रावक-श्राविकाओं ने भी बड़ा उत्साह दिखाया है। सेवाभावी मुनिश्री चंपालालजी स्वामी वृद्धावस्था में हैं तथा उनके घुटनों में दर्द भी रहता है। इसके बावजूद वे बड़ी हिम्मत के साथ प्रायः यात्रा में साथ रहे। हमारी छोटी-छोटी साध्वियों के चलने का उत्साह देखकर तो मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। यात्रा-काल में हमारे साथ जो भाई-बहन रहे, उन्होंने अनेक कष्ट सहन किए हैं, उन्हें समय-समय पर अनेक कठिनाइयों का भी मुकाबला करना पड़ा है, बहुत-कुछ त्याग भी करना पड़ा है, पर साथ ही

उन्हें आनंद भी मिला है, यह असंदिग्ध है। बहुत-से लोग जो अस्वस्थावस्था में आए थे, स्वस्थ होकर गए। जो लोग मानसिक चिंता लेकर आए थे, वे जाते समय मानसिक प्रसन्नता लेकर गए। यात्रा-काल में श्री जी. सुब्रह्मण्यमजी, श्री शांतानंदजी तथा श्री ज्वालनैयाजी ने भाषा की कठिनाई अनुवाद के द्वारा काफी रूप हल कर दी। संपूर्ण तमिलनाडु की यात्रा में श्री जी. सुब्रह्मण्यमजी ने तमिल अनुवाद का जो सुंदर क्रम रखा, वह विशेष उल्लेखनीय है। *आदर्श साहित्य संघ* ने भी यात्रा-काल में अविस्मरणीय सेवा की है।

दक्षिण-यात्रा के दूसरे चरण की संपन्नता के अवसर पर मैं दो बातें मुख्य रूप से कहना चाहूंगा

यात्रा-काल में अणुव्रत का प्रचार-प्रसार काफी सुन्दर ढंग से हुआ है। हजारों की संख्या में लोग अणुव्रती भी बने हैं और अनेक स्थानों पर अणुव्रत-समिति का गठन भी हुआ है। किंतु, जैसा शांतानंदजी ने भी कहा, उन्हें संभालने की अपेक्षा है। मैं इस कार्य को बहुत आवश्यक समझता हूँ। दक्षिण में अणुव्रत का कार्य बाद में सुचारु ढंग से चलता रहे, इसके लिए आप लोगों को नियमित रूप से समय लगाने की अपेक्षा है।

विसर्जन के बिना अर्जन दुःखदायी है

आप लोग विसर्जन करना सीखें। विसर्जन अपने समय, शक्ति और संपत्ति का हो सकता है। आप निश्चित समझिए कि विसर्जन के बिना अर्जन दुःखदाई और नुकसान पहुंचानेवाला हो सकता है। विसर्जन से जीवन हलका बनेगा और साथ ही जीवन की बहुत-सी समस्याएं भी सुलझ जाएंगी। अपनी आत्म-शुद्धि के लिए त्याग करना अति आवश्यक है। विसर्जन के अभाव में भविष्य अंधकारमय बन जाएगा। आप इसे कोई चंदा-चिट्ठा न समझें। इसे शुद्ध धार्मिक क्रिया समझकर करें। आप लोगों में से जो-जो लोग इस तत्त्व को समझ चुके हैं, वे आज से ही विसर्जन करना प्रारंभ कर दें तथा जो अभी तक नहीं समझे हैं, वे इसे अच्छी तरह समझकर प्रारंभ करें।

बल्लभ निकेतन, बेंगलुरु

२० जुलाई १९६६

४० : विसर्जन क्या है

विसर्जन और त्याग दोनों एक अर्थवाले केंद्र हैं। त्याग के दो अर्थ होते हैं छोड़ना और देना। विसर्जन के भी दो अर्थ होते हैं छोड़ना और देना। 'परिग्रह का विसर्जन करो' इसका अर्थ है परिग्रह से अपना ममत्व हटाओ। विसर्जन का अर्थ है स्वामित्व-विसर्जन या ममत्व-विसर्जन।

विसर्जन का प्राचीन प्रकार था वर्तमान संपत्ति से अधिक संपत्ति का विसर्जन।

विसर्जन का मध्यकालीन प्रकार हो गया वर्तमान तथा संभावित संपत्ति से अधिक संपत्ति का विसर्जन। कल्पना करें कि किसी व्यक्ति के पास दो लाख रुपए हैं। अब वह दस लाख रुपयों से अधिक संपत्ति का विसर्जन करता है।

वर्तमान चिंतन के संदर्भ में यह इच्छा-वृद्धि की ओर अभिमुख लगता है। विसर्जन का वर्तमान प्रकार इच्छा-परिमाण के साथ वर्तमान समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत करता है और नैतिक जीवन को भी पुष्ट करता है।

वर्तमान विसर्जन-पद्धति के अनुसार विसर्जन अनेक प्रकार से किया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप कुछ-एक प्रकार ये हैं

१. व्यापार नहीं करूंगा।
२. अमुक सीमा से अधिक ब्याज नहीं लूंगा।
३. अमुक सीमा से अधिक मुनाफा नहीं लूंगा।
४. अमुक सीमा तक आय होने पर व्यापार नहीं करूंगा।
५. अमुक सीमा से अधिक आय हो तो उस पर अपना स्वामित्व नहीं करूंगा।
६. व्यापार में जो लाभ हो, उसके अमुक अंश पर अपना स्वामित्व नहीं करूंगा।

७. अर्थार्जन के लिए अप्रामाणिक व अनैतिक साधनों का प्रयोग नहीं करूंगा।

८. आवश्यकता से अतिरिक्त भूमि और मकानों पर अपना स्वामित्व नहीं करूंगा।

विसर्जन से संग्रह-विमुखता, स्वार्थ का सीमाकरण, साधन-शुद्धि का विवेक, प्रामाणिकता और नैतिकताहृये फलित होने चाहिए।

मेरा विश्वास है कि विसर्जन के इस महान तत्त्व का विकास होने पर अपरिग्रह व्रत की वास्तविकता समझ में आएगी। 'अध्यात्म के द्वारा व्यावहारिक समस्याओं का भी समाधान होता है' हृयह विश्वास बढ़ेगा और आनेवाली समाजवादी समाज-व्यवस्था में जीवनयापन कठिन नहीं लगेगा।

४१ : पूंजीपति-वर्ग स्वयं को बदले

समय का चक्र बहुत तेजी से घूम रहा है, परिस्थितियां बहुत तेजी से बदल रही हैं। पुराने मूल्य धड़ाधड़ टूटते जा रहे हैं। आदमी चांद पर अपने चरण-चिह्न छोड़ आया है और अन्य ग्रहों पर पहुंचने के अभियान जारी हैं। इन बदलती हुई परिस्थितियों और बदलते हुए मूल्यों के समय जो व्यक्ति स्वयं को बदलना नहीं चाहेगा, उसका अस्तित्व सुरक्षित रह सकेगा, इसमें संदेह है। परिवर्तन इसी युग में हो रहा है, पहले कभी हुआ ही नहीं हो, ऐसी कोई बात नहीं है। परिवर्तन सदा होता रहा है और सदा होता रहेगा। किंतु आज परिवर्तन एक आश्चर्य और आतंक बनकर आ रहा है। इसका कारण उसकी तीव्र गति है। मंद गति से होनेवाले परिवर्तन के साथ आदमी सरलता से समझौता कर लेता है, जबकि तीव्र गति से होनेवाले परिवर्तन से समझौता तभी हो सकता है, जब उसकी गति भी तीव्र हो। उस गति के अभाव में वह परिवर्तन एक आतंक बन जाता है, जैसा कि आज का व्यक्तिह्मुख्यतः धनिक-वर्ग का व्यक्ति और परंपराप्रिय व्यक्तिह्अनुभव कर रहा है।

बदलते हुए संदर्भ

पिछले कई महीनों से समाजवाद की चर्चा जोरों पर है। समाजवादी आस्थावाले व्यक्ति तो इसकी चर्चा कर रहे हैं, अपनी सत्ता, संपत्ति और स्वामित्व की सुरक्षा की चिंता के कारण। नेतागिरी की सुरक्षा की चिंता से भी अनेक लोग समाजवाद का नारा उठाए हुए हैं। साम्यवादियों और नक्सलपंथियों का आतंक भी तेजी से बढ़ रहा है। हड़ताल, घेराव, लूटपाट, खड़ी फसल काट लेना, लाठी-चार्ज, गोली-चालन-जैसी घटनाएं साधारण हो चुकी हैं। इस बदलते हुए संदर्भ में लोग चिंतातुर हैं 'क्या किया जाए?' कानून भी तो आज उनका साथ नहीं दे रहा है। पुलिस और डंडा भी साथ नहीं दे रहा है। गरीबों और मजदूरों के हक में नए-नए कानून आने की

संभावना है। वातावरण देखते हुए लगता है कि यदि कानून नहीं आया तो जनता हिंसा के बल पर अपने अधिकार ले लेनेवाली है। इस स्थिति में धनिक या परंपरा-प्रिय व्यक्ति का चिंतातुर होना स्वाभाविक है।

धनिक-वर्ग की समस्या

मेरा संपर्क देश के अमीर व गरीब सब लोगों से है। मेरे द्वार सबके लिए समान रूप से खुले हैं। यही कारण है कि दोनों प्रकार के लोगों की मनःस्थिति से मैं खूब परिचित हूँ। इन दिनों मेरे सामने कई प्रश्न आए हैं—‘इस मूल्य-संक्रांति की स्थिति में धनिक-वर्ग को क्या करना चाहिए? देश में जो-कुछ भी निकट भविष्य में घटनेवाला है, उसे मौन तटस्थ भाव से देखते जाना चाहिए अथवा उसके विरोध या सहयोग में सक्रिय भाग अदा करना चाहिए? क्या धनिक-वर्ग की नियति यही है कि वह अपने को संपूर्णतः समय के हाथों सौंप दे अथवा वह अब भी अपनी स्थिति किसी मूल्य पर कायम रख सकता है?’ इस प्रकार के और भी अनेक प्रश्न मेरे सामने आते रहे हैं।

मैं समझता हूँ कि किसी भी स्थिति में व्यक्ति को अपने को नियति के हाथों नहीं सौंप देना चाहिए। समस्या चाहे कितनी ही गहरी क्यों न हो, उसे ठीक तरह से समझकर सुलझाने का प्रयत्न हो तो उसमें सफलता मिलती है। यद्यपि धनिक-वर्ग का ध्यान इस ओर आज से बहुत पहले चला जाना चाहिए था, किंतु आज भी यदि उसका चिंतन इस ओर जाता है तो मैं इसे बहुत देर नहीं मानता। मैं मानता हूँ कि आज भी यदि संपन्न लोग इस समस्या के समाधान में रुचि लें तो स्थिति बहुत सुधर सकती है। पर क्या वे इसके समाधान में हृदय से रुचि ले रहे हैं? सच यह है कि मुझे ऐसा नहीं लगता। समाधान की तड़प हृदय से नहीं, विवशता से उपजी है। और यह मुझे उससे भी ज्यादा खतरनाक दिखती है।

युग-चिंतन को समझने का प्रयास हो

सामंतवादी संस्कारों में पलनेवाली पीढ़ी के लिए समाजवादी विचारधारा को सहन कर पाना एक बहुत कठिन काम होता है। फिर जब युग की चिंतन-धारा समाजवाद या साम्यवाद की ओर प्रवाहित होती है, तब क्या उसे पीछे ढकेला जा सकता है? इसलिए सबसे पहले आवश्यक यह होता है कि मनुष्य जिस युग में जिए, उस युग के चिंतन-प्रवाह को समझने की कोशिश करे। जब सारा राष्ट्र विषमता को उखाड़ना चाहता है, तब यदि एक वर्ग

उन्हीं सामंतवादी संस्कारों को ओढ़े रखना चाहे, यह उचित नहीं है और न ही यह निभनेवाला है।

दो विकल्प

इसके आगे का कदम हैहउस चिंतन को हृदय से स्वीकार करना। युग के चिंतन को समझते हुए भी यदि उसे हृदय से स्वीकार नहीं किया तो हाथ में वही दुःख और विषाद आएगा। जो चिंतन युग का हो गया है, उसे किसी भी हालत में रोका नहीं जा सकता। उसे हर व्यक्ति को स्वीकार करना ही होगा। इस स्थिति में केवल दो विकल्प शेष रहते हैं। उसे हृदय से स्वीकार किया गया तो दोनों वर्गों के लिए सुखद होगा। यदि बलात आया तो गरीब वर्ग के लिए कोई फर्क नहीं पड़नेवाला है, पर अमीरों की हालत अवश्य चिंतनीय बन सकती है।

आक्रोश के दो कारण

स्थिति के स्वीकार के बाद आवश्यक होता है उसके साथ सामंजस्यपूर्ण ढंग से अपने को स्थापित किया जाए। प्रश्न यह हैह'वह सामंजस्यपूर्ण ढंग क्या हो?' इसके लिए सबसे पहले उन कारणों की ओर ध्यान जाना जरूरी है, जो दूसरे वर्ग के रोष और आक्रोश में हेतुभूत बनते हैं। आज आम जनता का धनिक-वर्ग के प्रति जो रोष और आक्रोश है, उसके मुख्य दो कारण हैंह१. संपन्न लोगों का विलासपूर्ण जीवन २. विपन्न लोगों का अभावपूर्ण जीवन।

वैसे तो ये दोनों स्थितियां एक दूसरे से सापेक्ष हैं, फिर भी दोनों में से एक का भी अभाव हो तो आक्रोश इतना तीव्र नहीं हो पाता है। जब दोनों स्थितियां अपनी चरम सीमा पर हों, तब विद्रोह की आग भड़क उठती है। एक वर्ग को खाने के लिए पूरा अन्न न मिले, तन ढकने को पर्याप्त कपड़ा न मिले और रहने को सामान्य-सी छत भी न मिले तथा दूसरी ओर अन्न की क्या बात है, मिष्टान्न भी मुट्ठी भर-भर उछालने को मिले, नित नए कपड़ों और नई फैशन से शरीर को सज्जित किया जाए और विलास चरम सीमा पर हो, उस हालत में नई क्रांति और नए विद्रोह को कोई भी रोक नहीं सकता। आज भी जब मैं सुनता हूं कि एक-एक विवाह में लाखों रुपए पानी की तरह बहाए जाते हैं, तब मुझे बहुत दुःख होता है। यह विषमता की चरम सीमा है। धनिकों को सबसे पहले इस आडंबर, प्रदर्शन और विलासपूर्ण जीवन को तिलांजलि देनी होगी। अभाव की सुलगती हुई आग में यह विलास घृत की

आहुति का काम करता है। उस आग की लपटें कम हों, इसके लिए विलास के ईंधन पर रोक लगानी होगी।

विसर्जन का मूल्यांकन हो

दूसरा हेतु हैहअभाव की चरम सीमा। आज के संघर्ष का सामना करने के लिए इस स्थिति की ओर ध्यान देना भी जरूरी है। जब तक पूंजी पर एकाधिकार समाप्त नहीं होता, यह समस्या सुलझनेवाली नहीं है। मैं अभी कुछ महीनों से विसर्जन पर जोर दे रहा हूँ। वह त्यागप्रधान है। व्यक्ति अपनी सत्ता का विसर्जन करे, अपने स्वामित्व और संपत्ति का विसर्जन करे, समय का विसर्जन करे। सत्ता के विसर्जन से अधिकारों की प्रतिस्पर्धा स्वयं समाप्त होगी। संपत्ति के विसर्जन से विषमता समाप्त होगी और समय के विसर्जन से निःस्वार्थ वृत्ति का विकास होगा। आज की परिस्थिति देखते हुए विसर्जन का मूल्य बहुत अधिक है। यदि समाज विसर्जन का मूल्यांकन करने लगे तो इससे उसे सहज ही दुहरा लाभ मिल सकता है।

ट्रस्टीशिप : विषमता दूर करने का मध्यम मार्ग

गांधीजी ने ट्रस्टीशिप का जो सूत्र दिया, वह विषमता को दूर करने का मध्यम मार्ग था। यदि धनिक-वर्ग ने इस ओर ध्यान दिया होता, तो संभवतः आज यह स्थिति नहीं आई होती। ट्रस्टीशिप का रास्ता ऐसा है, जिसमें मालिक को अपनी प्रतिष्ठा की दृष्टि से संतोष रहता है और मजदूर-वर्ग को अपनी आवश्यकतापूर्ति की दृष्टि से। आज भी एक मिल-मालिक यदि यह प्रयोग करता है कि मिलनेवाले लाभ का एक उचित अंश लेकर शेषांश मिल में काम करनेवाले मजदूरों के हितों में लगा देता है तो मैं समझता हूँ कि इससे वह मजदूर-वर्ग की सहानुभूति स्वयं प्राप्त कर लेता है। इससे मजदूर-वर्ग का अभाव मिटता है, अमीरों का विलास मिटता है, समाज की विषमता मिटती है और उत्पादन का अभाव मिटता है। इसे दूसरे शब्दों में कहें तो गरीबों की खुशहाली बढ़ती है, अमीरों की प्रतिष्ठा बढ़ती है, समाज में समानता का भाव बढ़ता है और देश में उत्पादन स्वयं बढ़ता है, क्योंकि लाभ पर एक का अधिकार नहीं, सारे समाज और देश का अधिकार होता है। इस प्रकार समाधान प्रत्येक समस्या का होता है। प्रश्न यही हैह'क्या पूंजीपति-वर्ग इस समस्या का समाधान हृदय से चाहता है?'

अणुव्रत ग्राम, बेंगलुरु

१० दिसंबर १९६६

४२ : एक विशिष्ट व्यक्तित्व महात्मा गांधी

महात्मा गांधी एक विशिष्ट कोटि के पुरुष थे। विशिष्ट कोटि के इसलिए कि उनके जीवन में कुछ ऐसी विशेषताएं थीं, जो देश के करोड़ों-करोड़ों व्यक्तियों में नहीं मिलतीं। स्वयं के लिए तो संसार में सभी जीते हैं, पर ऐसे व्यक्ति विरले ही होते हैं, जो मानवता के लिए जीते हों। महात्मा गांधी उन्हीं विरले व्यक्तियों में से एक थे, जो मानवता के लिए जिए।

विचारों के स्तर पर मिलन

यद्यपि गांधीजी से प्रत्यक्षतः मिलने का कोई प्रसंग मेरे जीवन में कभी नहीं आया, तथापि विचारों से हम दोनों परस्पर मिल चुके थे, ऐसा कहने में मुझे कोई कठिनाई नहीं है। मेरे विचारों की एक पुस्तक किसी के माध्यम से उन तक पहुंच गई। उन्होंने न केवल वह पुस्तक आद्योपांत पढ़ी, अपितु उसमें स्थान स्थान पर चिह्न भी लगा दिए। जहां जो विचार उनकी समझ में नहीं आया उसके लिए उन्होंने लिखाह 'यह विषय विचारणीय है।' जो विचार उन्हें अच्छा लगा, उसके संदर्भ में लिखाह 'क्या इस तत्त्व का प्रचार किया गया?' और पुस्तक के अंत में उन्होंने लिखाह 'क्या ही अच्छा होता कि इस महापुरुष के विचारों को मानकर संसार चलता।' गांधीजी के स्वर्गवास के पश्चात वह पुस्तक मुझे देखने को मिली। उसे देखकर मुझे इस बात की प्रसन्नता हुई कि उन्होंने मेरे विचारों पर अपनी सहमति की मुहर लगा दी, क्योंकि यह एक स्वाभाविक बात है कि जब महान व्यक्तियों द्वारा किसी व्यक्ति के विचारों का समर्थन किया जाता है, तब उसका साहस और उत्साह बढ़ जाता है।

अहिंसा के साधक और विचारक

मैं एक अहिंसा का साधक, अन्वेषक और विद्यार्थी हूं, इसलिए जो भी इस क्षेत्र में कार्य करनेवाले व्यक्ति होते हैं, उनसे सहज ही मेरा तादात्म्य संबंध बन जाता है। गांधीजी भी अहिंसा के एक महान साधक और विचारक

थे। अहिंसा के बारे में उन्होंने बहुत सूक्ष्मता से चिंतन किया था।

साधन-शुद्धि के समर्थक

तेरापंथ-प्रणेता आचार्य भिक्षु ने जिस साधन-शुद्धि के सिद्धांत की बात कही, उसका जितना समर्थन महात्मा गांधी के द्वारा हुआ, उतना शायद अन्य किसी के द्वारा नहीं हुआ। उनके जीवन के ऐसे अनेक घटना-प्रसंग हमें पढ़ने-सुनने को मिलते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि वे साधन-शुद्धि के सिद्धांत को कितना महत्त्व देते थे। गुजरात विद्यापीठ की स्थापना हुई। काका कालेलकर भी उस समय वहीं थे। व्यवस्थापक मंडल के सदस्यों ने उनसे पूछा 'अस्पृश्य लोगों को इसमें स्थान मिलना चाहिए या नहीं?' काका साहब ने उत्तर दिया 'मिलना चाहिए।' व्यवस्थापक मंडल के सदस्यों को, जिनमें से अधिकतर वैष्णव लोग थे, यह बात कम जंची। उन्होंने काका कालेलकर से कहा कि हम इस संदर्भ में गांधीजी से पूछेंगे। अवसर देखकर जब गांधीजी से इस बारे में पूछा गया, तब उन्होंने भी काका कालेलकर के विचार का समर्थन करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा 'विद्यापीठ का दरवाजा सबके लिए खुला रहना चाहिए।' व्यवस्थापक मंडल की दाल गली नहीं। तब मंडल के सदस्यों ने चिंतनपूर्वक एक नया मार्ग खोजा। इस प्रसंग के कुछ दिनों बाद वे पुनः एक दिन गांधीजी के पास आए और बोले 'हम आपको लाखों रुपयों का पुरस्कार प्रदान करेंगे, बशर्ते आप विद्यापीठ में हरिजनों के प्रवेश का निषेध कर दें।' उन लोगों की बात सुनकर गांधीजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा 'सुनिए, लाखों रुपए का पुरस्कार तो बहुत छोटी बात है, यदि भारत का स्वराज्य भी मुझे प्राप्त हो तो भी आपकी यह बात स्वीकार नहीं करूंगा। मैं गलत साधनों से कोई भी वस्तु प्राप्त करना नहीं चाहता।' यह एक उदाहरण है। इस प्रकार के और भी अनेक उदाहरण या घटना-प्रसंग हमें प्राप्त हैं, जिनमें साधन-शुद्धि के सिद्धांत के प्रति उनकी दृढ़ आस्था और भावना स्पष्ट रूप से झलकती है।

गांधी-जन्म-शताब्दी मनाने की सार्थकता

गांधी-जन्म-शताब्दी का प्रसंग है। इस अवसर पर मैं आप सबसे कहना चाहूंगा कि आप लोगों को मानवता के निर्माण में अपना सक्रिय योगदान करना चाहिए। मेरी दृष्टि में आज के युग में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है और इसकी शुभ शुरुआत स्वयं के निर्माण से करनी चाहिए। आप निश्चित मानें कि यदि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं का निर्माण करना शुरू कर दे तो

मानवता के नव-निर्माण के लक्ष्य की प्राप्ति आसानी से हो सकती है। अणुव्रत इस दिशा में सक्रिय है। अणुव्रत की आचार-संहिता स्वीकार कर व्यक्ति अच्छे ढंग से अपना निर्माण कर सकता है और सच्चा मनुष्य बन सकता है। मैं आशा करता हूँ कि अणुव्रत को स्वीकार कर आप अपना निर्माण करेंगे। ऐसा करके ही आप गांधी-जन्म-शताब्दी मनाने की सार्थकता को प्राप्त होंगे।

बेंगलुरु

२ अक्टूबर १९६६

४३ : गुणों का स्रोत : मनुष्य

किसी भी तत्त्व को फैलाने के लिए तदनुकूल भूमिका चाहिए। अनुकूल वातावरण के बिना जन-मानस अनुकूल नहीं बनता। उसके बिना तत्त्व नहीं फैलता। वातावरण की अनुकूलता के लिए गोष्ठी का आयोजन उपयुक्त है। भाषण में वक्ता अपने भाव व्यक्त करता है, पर गोष्ठी में श्रोताओं को भी अपने भाव व्यक्त करने का अवसर मिलता है। इसलिए गोष्ठी का महत्त्व है।

बुराई को बढ़ाने की आवश्यकता नहीं, वह स्वयं तेजी से बढ़ती है। पर अच्छाइयां प्रयास करने पर भी नहीं बढ़ रही हैं। (बुराइयों के पंख होते हैं, अच्छाइयों के नहीं।) इसलिए उन्हें फैलाने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। कई सोचते हैं कि अच्छाइयों का फैलाने के लिए धुआधार प्रचार करना चाहिए। कोई कहता है कि उसके लिए राज्य का सहारा लिया जाए। कोई कहता है कि धनपतियों का सहयोग लिया जाए तो कोई कहता है कि प्रदर्शन किया जाना चाहिए। ये बातें वास्तविकता से दूर हैं। वस्तु-स्थिति यह है कि जो अच्छाई को फैलाना चाहे, वह सबसे पहले स्वयं उसके अनुकूल आचरण करे, क्योंकि मनुष्य से बढ़कर कोई पूंजी, प्रचार और प्रदर्शन नहीं है। सब-कुछ मनुष्य है। यदि वह कुछ करना चाहे तो सबसे पहले अपना सुधार करे। दूसरे के निर्माण के नशे में कहीं अपने को भूल न जाए। सोचते बहुत हैं, पर मन से चाहनेवाले कम हैं और करनेवाले उनसे भी कम। अणुव्रत-आंदोलन का यही उद्देश्य है कि सबसे पहले व्यक्ति का सुधार हो, उसके द्वारा समाज, राष्ट्र और विश्व सबका सुधार होगा।

कई लोग अणुव्रत के नियमों को आदर्श मानते हैं और कुछ लोग अव्यावहारिक भी। इन नियमों को आदर्श व अव्यावहारिक माननेवाले कहते हैं कि ये जीवन में व्यवहार्य नहीं हैं, युग के अनुकूल नहीं हैं। आज अप्रामाणिकता के बिना काम नहीं चल सकता। प्रामाणिकता भी रखें और

युग के साथ भी चलें, यह दो घोड़ों की सवारी नहीं हो सकती। इस प्रकार वे उनकी उपेक्षा करते हैं। इसका कारण संभवतः उनकी अपनी कमजोरी है। वस्तुतः ये व्रत आज इतने आवश्यक हैं कि इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

अणुव्रत के नियम स्वीकार करने का मतलब गृहत्यागी बनना नहीं है। इसका मतलब तो है कि व्यक्ति जहां-कहीं भी रहे, वहां का वातावरण स्वस्थ और चरित्रयुक्त रखे। कम-से-कम अपना आचार, व्यवहार और विचार तो अवश्य ही पवित्र रखे।

४४ : मनुष्य जीवन कीमती है

हम मनुष्य हैं। हमारा जीवन अत्यंत कीमती है। मनुष्य जीवन की तुलना अन्य किसी पदार्थ से नहीं की जा सकती। धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि देवता भी, जो कि परम सुख में रहते हैं, मनुष्य बनने के लिए तड़पते हैं। जिसे मनुष्य-जीवन मिला है, वह सौभाग्यशाली है। परंतु प्रश्न है 'मनुष्य ने अपने जीवन का लाभ क्या उठाया?' आचार्य सोमप्रभ ने *सिन्दूरप्रकर* में कहा है

जिनेन्द्रपूजा गुरुपर्युपास्तिः, सत्त्वानुकम्पा शुभपात्रदानम्।

गुणानुरागः श्रुतिरागमस्य, नृजन्मवृक्षस्य फलान्यमूनि॥

इसमें पहली बात भगवत्पूजा की कही गई है। किंतु भगवत्पूजा का अर्थ फलों और फूलों से पूजा करना नहीं होता, बल्कि उनके गुणों की स्मृति करना होता है। व्यक्ति भगवान के बताए मार्ग पर चले, यही उनकी वास्तविक पूजा है।

दूसरी बात है गुरु-सेवा की। गुरु-सेवा का अर्थ है कि व्यक्ति सदा गुरु के निकट रहे। गुरु में जितनी विशेषताएं हैं, उनको हृदयंगम करे।

तीसरी बात है व्यक्ति प्राणियों के प्रति अनुकंपा रखे। जिस प्रकार हम सुखी रहना चाहते हैं, उसी प्रकार संसार के समस्त प्राणी सुखी रहना चाहते हैं। हम उन पर दया करें, उनके प्रति करुणाशील बनें। जो मनुष्य मांस खाता है, उसकी बुद्धि तीखी होती है और वह क्रूर बरताव करने लग जाता है। उसकी बोली में संयम नहीं रहता। राजस्थानी में एक कहावत है *हैहजिसो खावे अन्न, विसो होवे मन। जिसो पीवे पाणी, विसी बोले वाणी।*

आज का समाज स्वाद का आदी बन गया है। वह मांस व अन्य अखाद्य पदार्थ सिर्फ स्वाद के लिए खाता है, न कि भूख मिटाने के लिए।

चौथी बात है दानवृत्ति की। सही दानवृत्ति तभी आएगी, जब प्रवृत्ति में अहिंसा होगी। दान के लिए भावना शुद्ध होनी चाहिए। किंतु इस संदर्भ में

एक बात समझ लेने की है कि दान-दान में बहुत अंतर होता है। सभी तरह के दान एक-सरीखे नहीं होते। एक संस्कृत कवि ने कहा है

पात्रापात्रविभेदोस्ति, धेनुपन्नगयोरिव।

तृणात् जायते क्षीरं, क्षीरात् संजायते विषम्॥

ह पात्र और अपात्र में काफी भेद होता है, जैसे गाय और सर्प में। गाय घास खाकर अमृत के सदृश मधुर दुग्ध देती है। सर्प उसी अमृत को पीकर विष उगलता है।

सुपुत्र को सूखी रोटी खिलाने पर भी वह उसे प्रेम से खा लेगा, परंतु कुपुत्र को मिष्ठान्न खिलाने पर भी उसे क्रोध आएगा।

दान देते समय देश, काल और परिस्थिति को देखना चाहिए। इसलिए हमारे शास्त्रों में सुपात्र दान की महिमा गाई गई है।

अंतिम बात गुणानुराग की है। यह भी मनुष्य का एक विशेष गुण है। आज के मनुष्य में गुण के प्रति नहीं, अवगुण के प्रति अनुराग हो रहा है। वह दूसरों के गुण देखना नहीं चाहता, अवगुणों की ओर ही उसका ध्यान सबसे पहले जाता है। मनुष्य को गुणानुरागी होना चाहिए।

४५ : मनुष्य और पशु का अंतर

मेरा ध्यान जब ऐसे मनुष्यों की ओर जाता है, जो समय का वास्तविक मूल्य न आंककर भोग-विलास, खेल-कूद आदि सामान्य क्रियाओं में ही समय की सार्थकता समझते हैं, तब ऐसा लगता है कि मनुष्य जान-बूझकर अपनी आंखें मूंदकर इस दिशा में बढ़ा जा रहा है। मौलिक तत्त्व को अमौलिक और अमौलिक तत्त्व को मौलिक समझना ही क्या मनुष्य का उद्देश्य बन गया है? क्या भोग-विलास व खान-पान आदि क्रियाएं पशु नहीं करता? तब फिर पशु और मनुष्य में क्या अंतर रहा? भर्तृहरि ने कितना सुंदर कहा है—

आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च,
सामान्यमेतत् पशुभिः नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो,
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि क्रियाएं मनुष्य और पशु दोनों में समान रूप से होती हैं। जिस प्रकार पशु इन क्रियाओं में ही आसक्त बना अपनी जिंदगी पूरी कर देता है, उसी प्रकार अगर मनुष्य भी ऐसा करता है तो फिर दोनों में क्या अंतर हुआ? भर्तृहरि कहते हैं— 'मनुष्य और पशु में परस्पर भिन्नता दिखानेवाला एक ही लक्षण है—विवेक, ज्ञान या धर्म।' मनुष्य में विवेक है, किंतु पशु में इसका अभाव है। ऐसी स्थिति में मनुष्य अगर अपनी विशेषता को भुलाकर पशुता की ओर अग्रसर होता है तो यह अत्यधिक खेद का विषय है। अतएव मनुष्य समझे कि पशु की तरह भोग-विलास और खान-पान में ही जिंदगी बर्बाद करना बहुत गहरे में स्वयं की महत्ता कम करना है, स्वयं को हीन बनाना है। वह दिमागी और चिंतनशील प्राणी है। अतः वह निश्चय करे कि उसका ध्येय क्या है और उसका मार्ग क्या है। ये सवाल मनुष्य के सामने हैं और मनुष्य को इनका

समाधान करना है। जीवन का विकास उसका ध्येय है तथा त्याग, संयम, अहिंसा और अपरिग्रह को अपनाकर उसे अपने ध्येय को आत्मसात करना है। ऐसा करनेवाला व्यक्ति ही वास्तव में अपने जीवन और समय को सार्थक तथा सफल बनाने में समर्थ होगा। मैं आशा करता हूँ कि आप अपने जीवन और समय को सार्थक और सफल बनाएंगे।

४६ : मनुष्य और मनुष्य के बीच की दूरी

मनुष्य विवेकशील प्राणी है। उसे हर कार्य करने के पहले गहराई से सोचना चाहिए। मैं मानता हूँ कि आज का मनुष्य बुद्धि में कम नहीं, परंतु कठिनाई यह है कि वह हृदयहीन होता जा रहा है। विज्ञान का युग है। मनुष्य अपनी बुद्धि के बल पर आकाश को नाप रहा है। बड़े-बड़े समुद्रों की गहराई उसने जान ली है। वह अपनी हस्तरेखाओं की तरह संसार को देखने लगा है। संसार की दूरी कुछ रह नहीं गई है। परंतु दुःख है कि मनुष्य और मनुष्य के बीच की दूरी बढ़ती जा रही है।

प्राचीन काल में विदेशों की दूरी बहुत लंबी थी, परंतु मनुष्य, मनुष्य के निकट था। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को भाई मानता था। परंतु आज एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को धोखा दे रहा है। क्या सरकारी कार्यालय, क्या निजी कार्यालय, क्या बाजार, क्या दुकान हर जगह आज धोखा देना एक प्रथा के समान हो गया है। हमें यदि इस विनाशकारी प्रवृत्ति से बचना है तो मनुष्य-मनुष्य के बीच की दूरी कम करनी होगी।

हमारे ऋषियों ने धर्म का एक ऐसा मार्ग बताया है, जिससे एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से दूर होकर भी निकट रह सकता है। उन्होंने प्रत्येक मनुष्य को अद्वैतवादी दृष्टि से देखा। उनके विचार में मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं। परंतु आज अद्वैतवाद मात्र धर्मस्थानों तथा पुस्तकों तक सीमित रह गया है। वह ऑफिसों, दुकानों आदि से कोसों-कोसों दूर है।

आज हर मनुष्य धर्मस्थान में बैठकर मानवता एवं प्रेम की बातें सुनता है और करता भी है, परंतु ऑफिस तथा दुकान में बैठकर सब-कुछ भूल जाता है। सब चीजों में मिलावट करता है। शुद्ध पानी भी मिलना आज मुश्किल है। हा! सब चीजों में मिलावट!

४७ : मनुष्य की सत्यविमुखता

अणुव्रत किसी जाति, संप्रदाय से संबंधित नहीं है। यह उन सब मनुष्यों के लिए उपयोगी और सुलभ है, जो अच्छा जीवन जीना चाहते हैं। हालांकि जीना सभी चाहते हैं, तथापि यह एक यथार्थ है कि कैसे जीना चाहिए, यह सब लोग नहीं जानते। आज का मनुष्य सत्य से विमुख हो रहा है। उसके जीवन से प्रामाणिकता का लोप हो रहा है। चरित्रहीनता के कारण चारों ओर अशांति का वातावरण बना हुआ है। शांति के लिए मनुष्य दर-दर भटक रहा है। मैं कहता हूँ कि शांति किसी बांध में नहीं बंधी है, जो वहां से बहकर मनुष्य के पास पहुंच जाएगी। मैंने तुंगभद्रा, कृष्णराज सागर, भद्रा आदि कई बांध भी देखे। उनमें भी जब पानी का अभाव है, तब शांति को बांधकर कैसे रखा जा सकता है? यह गेहूं-चावल आदि की तरह बाहर से भी आयात नहीं की जा सकती। इसके लिए तो मनुष्य को अपने अंतःकरण का द्वार ही खटखटाना होगा। उसी में यह मिल सकती है।

आज भारत में उपदेशकों की कमी नहीं है। नैतिकता, प्रामाणिकता, ईमानदारी पर आपको सब जगह लंबे-लंबे भाषण सुनने को मिल जाएंगे, परंतु भाषण देनेवालों के जीवन में स्वयं इनके दर्शन नहीं होंगे। प्राचीन काल में भारत को बहुत ऊंची नजर से देखा जाता था। इसका कारण यह नहीं कि यहां की जनसंख्या अधिक थी या यह बहुत संपन्न था। प्रतिष्ठा का कारण यह था कि यहां के लोग धार्मिक थे, सच्चरित्र थे, ईमानदार थे, ज्ञानी थे और थे अपने जीवन में प्रामाणिक। उस समय भारत में जो भी विदेशी पर्यटक आया, उसने यहां की भूरि-भूरि प्रशंसा की। परंतु यह कहते हुए दुःख होता है कि इसी देश में आज नैतिकता का पाठ पढ़ाने के लिए विदेशों से लोग बुलाए जाते हैं। अपेक्षा है, भारतवासी अपना प्राचीन गौरव पुनः प्राप्त करें।

४८ : मानवता का विकास हो

निर्माण और प्रलयहये दो शब्द बहुलता से प्रयुक्त होते हैं। इनमें से एक में रचना के लिए अवकाश है तो दूसरे में सर्वनाश के लिए। एक का परिणाम अति सुंदर होता है, तो दूसरे का अति असुंदर और अति दुःखद। ऐसा लगता है कि आज मनुष्य प्रलय पर उतारू हो गया है, क्योंकि उसका विश्वास विध्वंस और हिंसा के प्रति बढ़ रहा है। इसका परिणाम कभी सुंदर नहीं हो सकता। आज ऐसे शस्त्रों का निर्माण हो गया है, जिनके प्रभाव से विश्व का विध्वंस हो सकता है। महात्मा गांधी ने अहिंसा का प्रयोग विश्व के समक्ष रखा। उसका परिणाम कितना सुंदर रहा, यह सारा संसार जानता है। भारत तथा कई अन्य राष्ट्रों को भी बिना रक्तपात के आजादी मिली। आज महावीर नहीं हैं, बुद्ध नहीं हैं, गांधी भी नहीं हैं। वे संसार से विदा हो गए। वे विदा हो गए तो क्या हुआ, अच्छे मनुष्य तो होने चाहिए। परंतु यह अत्यंत दुःख की बात है कि आज अच्छे आदमियों की कमी महसूस हो रही है। इस कारण हम गांव-गांव, नगर-नगर घूमकर मानव को मानवता की ओर आकृष्ट कर रहे हैं। आज सबसे बड़ी आवश्यकता है कि मानव-मानव के जीवन में मानवता का विकास हो। उसके मानस में अहिंसा एवं मैत्री की भावना का प्रादुर्भाव हो। अणुव्रत-आंदोलन के द्वारा हम पूरे राष्ट्र में यह कार्य कर रहे हैं। हमारी दक्षिण भारत की इस यात्रा के दौरान हजारों-हजारों लोगों ने अणुव्रत को स्वीकार किया है। मुझे विश्वास है कि आप भी अणुव्रत को अपने जीवन में स्थान देंगे।

४६ : भारतीय संस्कृति की रक्षा

मेरी दृष्टि में आज सबसे बड़ी आवश्यकता है कि भारतीय संस्कृति को समझा जाए और उसकी रक्षा की जाए। हम भारतीय संस्कृति के व्यापक दृष्टिकोण को समझाने के लिए ही परिभ्रमण कर रहे हैं। हमने अणुव्रत के माध्यम से इस शाश्वत संस्कृति को नए रूप में जनता के समक्ष रखा है। मेरा कार्यक्रम व्यापक है। अस्पृश्यता, जाति-पांति तथा कर्म-कांड में मेरा तनिक भी विश्वास नहीं है। हम धर्म को मनुष्य के जीवन-व्यवहार में देखना चाहते हैं। अणुव्रत का सर्वत्र उसके अनुरूप ही स्वागत हुआ है। परंतु शहरों की अपेक्षा ग्रामों में जाने पर मुझे अधिक प्रसन्नता होती है। दस मील के विहार में भी हमें चार-चार स्थानों पर रुकना पड़ा है। ग्रामवासियों की आंतरिक नैसर्गिक श्रद्धा से शहरी लोगों की श्रद्धा से तुलना नहीं की जा सकती। ग्रामीण लोगों में हमने अच्छी श्रद्धा देखी है। वे मुझे फल-फूल, रुपए-पैसे आदि चढ़ाने के लिए आते हैं। मैं भावना से उनकी भेंट स्वीकार करता हूं और उन्हें अपनी चीजें वापस लेने को कहता हूं। वे मुझसे पूछते हैं 'स्वामीजी! आप क्या भेंट लेंगे? क्या आपको और अधिक चीजें चढ़ाएं, तब लेंगे?' मैं उन्हें कहता हूं 'आप अपनी प्रिय चीज देंगे, तभी मैं लूंगा।' वे पूछते हैं 'क्या चीज दें?' मैं कहता हूं 'आप शराब, बीड़ी, सिगरेट आदि चीजें मुझे भेंट में दें।' वे हमारी इस भेंट को सुनकर एक बार तो आश्चर्य में पड़ जाते हैं, परंतु शीघ्र ही सारी बात समझ भी जाते हैं। आप शायद यह सुनकर आश्चर्य करेंगे कि चालीस-चालीस वर्षों से शराब पीनेवालों ने उसका त्याग कर दिया है। अनेक लोगों ने बीड़ी तथा सिगरेट के पैकेट तोड़कर मेरे पैरों के पास रख दिए हैं। निस्संदेह सच्ची मानवता के दर्शन तो ग्रामों में ही होते हैं। इधर हमारे बहुत-से भक्त लोग शहरों में रहते हैं। जब मैं उन्हें व्यापार में प्रामाणिकता रखने के लिए कहता हूं, तब वे मेरी यह बात एक कान से सुनते हैं और दूसरे कान से निकाल देते हैं।

मैं अपना सच्चा स्वागत जय-जयकार के नारों से, अभिनंदन-पत्रों से या गाजों-बाजों से नहीं मानता। ये सब तो प्रदर्शन की चीजें हैं। ये मुझे आकृष्ट नहीं कर सकतीं। मेरा तो सबसे अच्छा स्वागत अणुव्रत को जीवन में उतारने से ही हो सकता है।

५० : देश का नैतिक पतन

मैं देश में फैले हुए भ्रष्टाचार को देखकर चिंतित हूँ। मुझे आश्चर्य होता है कि देश के नेताओं का ध्यान इस ओर क्यों नहीं जा रहा है। आज सबको अपने-अपने स्वार्थ की चिंता है। चुनाव जीतने के लिए प्रत्याशियों द्वारा वोट खरीदे जाते हैं। जीतने के पश्चात वे लोग अपना पेट भरना शुरू कर देते हैं। आज भी देश में विषमता अपनी चरम सीमा पर है और उधर समाजवाद का नारा लगाया जाता है। मैं स्पष्ट कहता हूँ कि जब तक वोटों की खरीद-बिक्री बंद नहीं होती, तब तक सच्चा समाजवाद नहीं आ सकता।

आजादी के बाद देश का जितना पतन हुआ है, उतना शायद पहले नहीं था। यह ठीक है कि स्वतंत्रता के बाद देश में काफी कल-कारखानों की वृद्धि हुई है, परंतु नैतिक पतन भी उतना ही तेजी के साथ हुआ है। जब तक लोगों के हृदय में नैतिकता को स्थान नहीं मिलेगा, तब तक कोई भी विकास-योजना सफल हो सकेगीहइसमें मुझे संदेह होता है।

आज किसी एक व्यक्ति को दोषी नहीं कहा जा सकता। सबकी आंखें बंद-सी लगती हैं। एक समय वह था, जब देश की आजादी के लिए हजारों लोगों ने अपने प्राण हंसते-हंसते दे दिए। कितने बैरिस्टर्स ने अपनी बैरिस्टरी छोड़ी, कितने विद्यार्थियों ने अपनी-अपनी डिग्री का मोह छोड़ा और कितने अध्यापकों ने राष्ट्र की वेदी पर अपने प्राणों तक का उत्सर्ग कर दिया। उन्होंने यह कभी कल्पना भी नहीं की होगी कि स्वतंत्रता के पश्चात हमारे देश का इतना अधिक पतन हो सकता है। आज लोगों ने महात्मा गांधी को भुला दिया है, उनके वचनों को भुला दिया है। यह देश के लिए हितकर नहीं हुआ है। बीस वर्षों की आजादी के बाद भी आज अन्न के लिए विदेशों से भीख मांगी जाती है। एक व्यक्ति अपनी नौ-मंजिली इमारत बना कर स्वर्ग

की कल्पना करता है तो उसके पड़ोसी को धूप व वर्षा से बचने के लिए टूटी-फूटी झोंपड़ी भी नसीब नहीं है। कितनी विषमता! सड़कों पर लोगों को सोते तथा जूठा खाते देखकर हृदय कांप उठता है। क्या गांधीजी के मस्तिष्क में स्वराज्य की यही कल्पना थी ?

५१ : क्या भारत धर्मप्रधान देश है

धर्म का पलड़ा भारी था

ऐसा कहा जाता है कि भारतवर्ष एक धर्मप्रधान देश है। यदि हम इस कथन की समालोचना करें तो हमें कुछ तथ्य मिलेंगे। अतीत में भारतवर्ष धर्मप्रधान देश था और वर्तमान में है, ऐसी बहुत-से लोगों की अवधारणा है तथा उनका यह विश्वास भी है कि भविष्य में भी भारतवर्ष धर्मप्रधान देश बना रहेगा। यहां समझने की बात यह है कि अधर्म का अपना त्रैकालिक अस्तित्व है। वर्तमान में वह है और अतीत में भी वह था, ऐसा हमें स्वीकार करना चाहिए। भले कुछ लोगों को यह बात रुचिकर न लगे, पर मैं इस यथार्थ पर परदा नहीं डाल सकता। महाभारत में हम पढ़ते हैं कि भरी राजसभा में द्रौपदी के चीर-हरण का घिनौना प्रयास हुआ। मैं जहां तक सोचता हूं, ऐसा अधर्म का कार्य तो शायद वर्तमान युग में भी नहीं होता। दासप्रथा, सतीप्रथा, बलिप्रथा आदि बातें अतीत में इसी भारत की भूमि पर चलती थीं। बड़े-बड़े युद्ध भी इसी भूमि पर हुए। इसके बावजूद भारत को धर्मप्रधान देश माना गया, कहा गया। मुझे लगता है कि इसके पीछे यह दृष्टिकोण था कि अधर्म की अपेक्षा धर्म का पलड़ा भारी था। हालांकि एक सीमा तक अनीति भी चलती थी, अधर्म भी चलता था, तथापि आम जनता धर्मनिष्ठ और नीतिनिष्ठ थी। यहां व्यापक स्तर पर अध्यात्म की चर्चा चलती रहती थी और ऋषि-महर्षियों की वाणी का अच्छा प्रभाव था।

अधर्म का पलड़ा भारी है

अतीत की बात हम एक बार छोड़ें, वर्तमान में आएँ। वर्तमान में भारतवर्ष की जैसी स्थिति है, उसे देखते हुए एक अपेक्षा से इसे धर्मप्रधान देश कहने में मुझे संकोच होता है। यद्यपि आज भी यहां धर्मस्थानों एवं धर्मगुरुओं की कोई कमी नहीं है, तथापि नैतिक और चारित्रिक दुर्भिक्ष जितना आज दिखाई देता है, उतना शायद अतीत में नहीं था। किंतु इसका तात्पर्य

यह भी नहीं है कि आज न्याय-नीति बिलकुल है ही नहीं। आज भी अनेक नीतिनिष्ठ और चरित्रसंपन्न व्यक्ति देखने को मिलते हैं। फिर ऐसा कहने का तात्पर्य? इसका तो इतना-सा अर्थ है कि अन्याय-अनीति और अधर्म का पलड़ा भारी हो गया है।

जहां तक भविष्य का प्रश्न है, मैं नहीं समझता कि उसके बारे में कोई भविष्यवाणी करना जरूरी है। इसके बावजूद इतना सुनिश्चित है कि यदि वर्तमान अच्छा होगा तो भविष्य भी अच्छा होगा। इसके ठीक विपरीत यदि वर्तमान अच्छा नहीं होगा तो भविष्य के भी अच्छा होने की कोई कल्पना और आशा करना बेकार है।

अणुव्रत का प्रयास

अणुव्रत के द्वारा हम जन-जन को नैतिक बनाने का कार्य कर रहे हैं। किंतु हमारे इस प्रयास से सारा संसार सुधर जाएगा, ऐसा न तो हमारा दावा है और न एसी कोई कल्पना ही है। इससे भी आगे, मैं ऐसा संभव भी नहीं मानता। यदि हमारे इस प्रयास से अधर्म और अनीति की अपेक्षा धर्म और नीति का पलड़ा भारी हो जाए तो मैं समझूंगा कि हम अपने प्रयास में सफल हैं, इस दिशा में अच्छा कार्य हुआ है। मैं आप लोगों से यह अपेक्षा रखता हूं कि आप लोग अणुव्रत के छोटे-छोटे संकल्प स्वीकार कर स्वयं अणुव्रती बनें और दूसरों को इसके लिए प्रेरित करें।

बेंगलुरु

१४ अगस्त १९६६

५२ : परिस्थितियों से घबराएं नहीं, उनका मुकाबला करें

बैंगलोर (बेंगलुरु) पहुंचने के साथ ही आज मेरी दक्षिण-यात्रा का द्वितीय चरण संपन्न हो रहा है। इस बात की मुझे सात्त्विक प्रसन्नता है। वास्तव में दक्षिण प्रदेश भारत की सांस्कृतिक भूमि है। भारतीय संस्कृति की जितनी सुरक्षा दक्षिण भारत में हुई है, उतनी शायद उत्तर भारत में नहीं। यहां की जनता में अध्यात्म के प्रति सहज निष्ठा है। जैन-संस्कृति के प्रति यहां के जन-जन में सम्मान है। यात्रा के दौरान प्राप्त अनुभवों के आधार पर मुझे ऐसा लगा कि हमने दक्षिण भारत आने में बहुत देर कर दी। बहुत पहले हमें यहां आना था। बारह वर्षों तक मन में आने की तीव्र इच्छा होती हुए भी कुछ परिस्थितियोंवश मेरा दक्षिण में आना नहीं हो सका। मेरे आने की प्रतीक्षा में दक्षिण के अनेक प्रमुख श्रावक सदा के लिए विदा हो गए। आपके बैंगलोरवासी श्री बस्तीमलजी छाजेड़ यहां के प्रमुख श्रावक थे। उनकी बहुत तीव्र इच्छा थी कि मैं दक्षिण में आऊं। यदि वे आज होते तो उनकी खुशी का पार नहीं होता। इसी प्रकार अनेक व्यक्तियों ने ऐसा संकल्प ले रखा था कि जब तक आचार्यश्री दक्षिण में नहीं आएंगे, तब तक घी, दूध, गेहूं आदि नहीं खाएंगे। कई व्यक्तियों ने पलंग पर सोना और जूते पहनना तक भी छोड़ दिया था।

इस बार जब मैं दक्षिण-यात्रा के लिए चला, तब मेरे कई शुभचिंतकों ने कहा कि अभी आपको दक्षिण में नहीं जाना चाहिए, क्योंकि वहां राजनीतिक स्थितियां अनुकूल नहीं हैं। भाषा की भी वहां बड़ी समस्या है। मैंने कहा कि 'मैंने जाने का दृढ़ संकल्प कर लिया है। इसलिए मुझे अवश्य जाना चाहिए।' और मैं आपके दक्षिण भारत में पहुंच गया। यहां की जनता का प्यार और कार्यक्रमों के प्रति उत्साह देखकर मैं आश्चर्यचकित रह गया। हिंदी-विरोधी क्षेत्रों में भी मेरा भाषण जनता ने बड़े प्रेम से सुना। पूरी यात्रा के दौरान एक भी ऐसा अवसर नहीं आया, जब भाषा के कारण मुझे अपना भाषण बंद करना पड़ा हो।

मैं अनुभव कर रहा हूँ कि आज का युग विषम परिस्थितियों का है। लेकिन हमें परिस्थितियों से घबराना नहीं है। हर स्थिति का डटकर मुकाबला करना है। संसार सदा परिवर्तनशील है। इसलिए हमें यथासमय परिवर्तन करने के लिए तैयार रहना चाहिए, अन्यथा जीवन रूढ़ बन जाएगा और अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ सकता है। यदि समय रहते हम स्वयं को युग के अनुरूप मोड़ देते हैं तो कोई भी समस्या हमारे सामने नहीं रहती।

दूसरी महत्वपूर्ण बात है कि व्यक्ति कभी भी अध्यात्म को न भूले। हर परिस्थिति में मनुष्य को अपने धर्म पर दृढ़ रहना अति अपेक्षित है, अन्यथा व्यक्ति परिस्थितियों का दास बन जाएगा और वे मनुष्य पर हावी हो जाएंगी।

मैं देख रहा हूँ कि राष्ट्र के सामने अनेक समस्याएं आ रही हैं। पुरानी समस्याओं का समाधान भी नहीं होता और नई समस्याएं खड़ी हो जाती हैं। मेरे दृष्टि में इसका मूल कारण हैहचिंतन का गलत प्रकार। किसी भी समस्या के समाधान के लिए उसके विभिन्न पहलुओं पर विचार करना आवश्यक है। मात्र वर्तमान की सोचने और भविष्य को भुलाने या भविष्य की सोचने और वर्तमान को भुलाने से समस्या का समाधान प्राप्त नहीं होगा। हां, इन दोनों के संदर्भ में सोचने से किसी भी समस्या का समाधान मुश्किल नहीं है।

आप देख रहे हैं कि आज सारे विश्व में नैतिकता का दुर्भिक्ष-सा दिखाई पड़ता है। समाज के सभी वर्ग इससे प्रभावित हुए हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति-व्यक्ति को संभलने की अपेक्षा है। 'अणुव्रत' व्यक्ति-निर्माण का मार्ग है। वह राष्ट्र के व्यक्ति-व्यक्ति को नैतिक बनाना चाहता है। दूसरे शब्दों में अणुव्रत सुखी और स्वस्थ जीवन का मूल मंत्र है। मैं आशा करता हूँ कि मेरे चातुर्मासिक प्रवास में आप लोग अधिक-से-अधिक अणुव्रती बनकर मेरा सच्चा स्वागत करेंगे।

बल्लभ निकेतन, बेंगलुरु

२० जुलाई १९६६

५३ : ज्ञान का सार आचार

विद्या अपने-आपमें एक बहुत महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। वह जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही महत्त्वपूर्ण है उसे प्राप्त करना। मैं इसे एक बहुत बड़ी साधना के रूप में देखता हूँ। एक अपेक्षा से हम देखें तो विद्याविहीन व्यक्ति पशु के तुल्य होता है। किंतु इस संदर्भ में एक बात समझ लेने की है। हम विद्या किसे कहें? कुछ बातें या सूचनाएं रट लेना और कुछ डिग्रियां हासिल कर लेना विद्या नहीं है। रट तो तोते भी बहुत लेते हैं। किंतु इससे वे विद्यासंपन्न नहीं बनते। मेरी दृष्टि में विद्या या ज्ञान वह तत्त्व है, जिससे जीवन संस्कारी बनता है और व्यक्ति अज्ञानी से ज्ञानी बनता है। भारतीय परंपरा में उस विद्या को अविद्या और उस ज्ञान को अज्ञान माना गया है, जो व्यक्ति को आत्मा का भान नहीं कराता। आत्मा का भान होने पर व्यक्ति संसार के छोटे-बड़े सभी प्राणियों को आत्मतुल्य समझेगा। अहिंसा, दयालुता और प्रेम की भावनाएं जागना विद्यासंपन्नता की पहली पहचान है। विद्या की निष्पत्ति या फलित के रूप में व्यक्ति सच्चरित्रसंपन्न होना चाहिए। हमारे यहां कहा गयाहनाणस्स सारमायारोहज्ञान का सार आचार है। यदि वर्षों तक अध्ययन करने के बाद भी व्यक्ति चरित्रवान नहीं बनता तो मानना चाहिए कि उसकी विद्या बेकार है। दूसरे शब्दों में आचार की पवित्रता ही सच्ची शिक्षा है।

मेरे समक्ष बड़ी संख्या में छात्राएं बैठी हैं। आज राष्ट्र का छात्र-वर्ग अनुशासनहीन बनता जा रहा हैहयह मेरी दृष्टि में राष्ट्र के समक्ष सबसे बड़ा संकट है। किंतु इसमें केवल विद्यार्थी-वर्ग का ही दोष नहीं है। आज का दूषित वातावरण तथा रातनीतिक लोग भी इसके बहुत बड़े कारण हैं। विद्यार्थियों का जीवन सही दिशा में मोड़ने के लिए उन्हें नैतिक प्रशिक्षण देना बहुत आवश्यक और उपयोगी है। किंतु इतना पर्याप्त नहीं है। ऐसा करने से पूर्व शिक्षकों और अभिभावकों को नैतिक बनना बहुत जरूरी है। इस दृष्टि से

हमने अणुव्रत के माध्यम से त्रिकोणात्मक सुधार-अभियान चलाया है। इस अभियान को सफल बनाने के लिए मैं तीनों वर्गों के सहयोग की अपेक्षा करता हूँ।

बेंगलुरु

२५ अगस्त १९६९

५४ : अज्ञान की परिकाष्ठा

इस प्रदेश में अकाल की स्थिति है। वर्षा के अभाव में लोग दुखी हैं। लेकिन मुझे इससे भी बड़ा दुःख अज्ञानपूर्ण स्थिति का लगा। मैंने आज एक बात सुनी। यहां एक जुलूस निकाला गया। वह जुलूस कोई राजनीतिक जुलूस नहीं, अपितु धार्मिक जुलूस था, देवी के नाम पर था। ऐसा बताया जा रहा है कि विगत दो वर्षों से यहां वर्षा नहीं हुई। ऐसी स्थिति में इस प्राकृतिक प्रकोप से संघर्ष कर उस पर विजय पाने का प्रयास करने की बात तो समझ में आ सकती है, किंतु बेचारे निरीह प्राणियों की बलि देकर किसी देवी या देवता को प्रसन्न करने की बात मेरी समझ से बाहर है। मैं इसे अज्ञान की पराकाष्ठा मानता हूं। क्या ऐसा करने से वर्षा आएगी? क्या बलि दिए गए निरीह प्राणियों के मांस के टुकड़े सड़क पर लेकर घूमने से देवी प्रसन्न होगी? मुझे तो यह घटना सुन बेहद दुःख हुआ। आज के ज्ञान-विज्ञान के युग में भी ऐसे क्रूरतापूर्ण कृत्य सार्वजनिक रूप में हों और उन्हें शिक्षित, बौद्धिक एवं सभ्य कहलानेवाले लोग बिना किसी प्रतिक्रिया के मौन भाव से देखते रहें, इससे अधिक शर्म की बात और क्या होगी! शिक्षित और बौद्धिक लोगों का काम है कि जनता में व्याप्त अज्ञान को दूर करने का सलक्ष्य प्रयास करें और उसे जीने की कला अथवा जीवन के विज्ञान से परिचित कराएं। यह उनकी जनता के प्रति बहुत अच्छी सेवा होगी। अणुव्रत, जिसका अभियान मैंने पूरे राष्ट्र में चला रखा है, अपने-आपमें जीने की कला ही है। शिक्षित और प्रबुद्ध लोगों से मैं विशेष रूप से कहना चाहता हूं कि वे अणुव्रती बनकर स्वयं जीने की कला सीखें और जन-जन को भी इस ओर प्रेरित करें।

कोट्टाभपट्टी

१८ फरवरी १९६९

५५ : विज्ञान का युग

यह विज्ञान का युग है। यातायात की सुविधाएं बढ़ गई हैं। किसान तथा साधु-संन्यासी पैदल चला करते थे, परंतु अब तो वे भी वाहनों का उपयोग करने लगे हैं। जैन-मुनि ही इस समय पैदल चलनेवालों में रह गए हैं। पद-यात्रा उनका जीवन-व्रत है। अब तक हमने हजारों-हजारों मील की पैदल-यात्रा कर ली है। मैं भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुंच गया हूं।

आज ऐसा कौन-सा वर्ग है, जिसमें बुराई ने प्रवेश न किया हो? पुलिस तथा अन्य राज्य-कर्मचारियों में रिश्वत का बोलबाला है। अन्य वर्ग भी इससे अछूते नहीं हैं। व्यापारियों के लिए मिलावट तथा चोरबाजारी तो आम बात बन गई है। साहूकार का अर्थ होता है हजो दूसरे का शोषण नहीं, पोषण करे। परंतु आज तो इसके सर्वथा विपरीत हो गया है।

एक चोर था। किसी अपराध में पुलिस द्वारा पकड़ लिया गया। राजा के समक्ष हाजिर किया गया। अपराध सिद्ध हो जाने पर राजा ने चोर को फांसी की सजा सुनाते हुए कहा 'तुम्हारी कोई अंतिम इच्छा हो तो बता सकते हो। वह पूरी की जाएगी।' चोर ने कहा 'महाराज! मैं मोती की खेती करने की कला में पारंगत हूं। फांसी के तख्ते पर चढ़ने से पूर्व उससे आपको परिचित करवाना चाहता हूं। यह मेरी इच्छा है।' राजा ने कहा 'ठीक है, तुम मोती की खेती के लिए जमीन तैयार करो। मैं तुम्हें चार माह का समय देता हूं।' और उसे मुक्त कर दिया। चोर ने मोती बोने के लिए जमीन खूब अच्छी तरह से समतल बना दी। राजा व अन्य सभासद एकत्रित हुए। चोर ने कहा 'महाराज! मोती बोने के लिए जमीन तैयार है, परंतु इसे वही बो सकता है, जिसने आज तक कभी किसी प्रकार की चोरी न की हो। मैं तो चोर हूं, इसलिए अपात्र हूं, बोने का अधिकारी नहीं।' सारी सभा चुप रह गई। एक

भी व्यक्ति मोती बोने के लिए सामने नहीं आया। राजा ने कहाह 'तुम मोती की खेती करने की कला तो नहीं जानते, परंतु छूटने की कला अवश्य जानते हो। मैं तुम्हें फांसी की सजा से मुक्त करता हूं।'

आज सबके समक्ष यही प्रश्न गंभीर रूप से खड़ा है। सब अपने-अपने क्षेत्र में अनियमितता बरत रहे हैं। यदि लोग सचमुच इस बुराई से बचना चाहते हैं तो अणुव्रती बनकर अपना जीवन सार्थक बनाएं।

५६ : जनतंत्र का प्राणतत्त्व

बैंगलोर (बैंगलुरु) आगमन के बाद आप लोगों से सामूहिक रूप से मिलने का यह मेरा प्रथम ही अवसर है। मेरा पत्र-प्रतिनिधियों से पिछले बीस वर्षों से काफी संपर्क रहा है। वह संपर्क दिल्ली से प्रारंभ हुआ और आज बैंगलोर (बैंगलुरु) में मैं आप लोगों के बीच उपस्थित हूँ। वह बड़े आश्चर्य का विषय था, जब दिल्ली में प्रथम बार मैंने पत्र-प्रतिनिधियों के बीच अपने विचार दिए। उस सम्मेलन में संभवतः देश और विदेशों के पचास से अधिक पत्र-प्रतिनिधि उपस्थित थे। उनके मन में इस बात का बहुत कौतूहल था कि एक धर्मगुरु हमें क्या कहेंगे। ऐसा इसलिए कि पत्रकारों की यह आम धारणा है कि धर्मगुरुओं का उनसे कोई संबंध नहीं होता। लेकिन मुझे यह बताते हुए प्रसन्नता होती है कि उस प्रथम दिन मैंने जो विचार दिए, उन विचारों को उन्होंने बड़े सुंदर ढंग से जनता में फैलाया। अमेरिका के प्रसिद्ध पत्र 'टाईम' व 'लाईफ' में भी उन विचारों को बहुत महत्त्व दिया गया। उसके बाद भी मैंने अनेकानेक बार पत्र-प्रतिनिधियों के समक्ष अपने विचार रखे हैं और हम आपस में घुल-मिल-से गए हैं।

मैं बहुत देरी से आया

आपको मालूम ही होगा कि मैं बैंगलोर (बैंगलुरु) में प्रथम बार ही आया हूँ। आपके मैसूर प्रांत की सुंदर जलवायु मुझे बहुत-बहुत भाई। आज तक मैंने जितने प्रांतों की यात्रा की है, उनमें से सबसे अच्छी जलवायु मुझे मैसूर प्रांत की लगी। यहां का प्राकृतिक सौंदर्य और मौसम दोनों मन को आकर्षित करनेवाले हैं। न केवल प्राकृतिक सौंदर्य और मौसम, बल्कि यहां की संस्कृति को देखकर भी मन में बहुत हर्ष होता है। जहां उत्तर भारत में भारत की प्राचीन संस्कृति बहुत कम रह गई है, वहां दक्षिण भारत में आज भी वह काफी रूप में सुरक्षित है। सैकड़ों वर्ष पूर्व दक्षिण भारत जैनों का प्रमुख केंद्र था। मैंने जब यहां आकर देखा, तब मेरी पुरानी स्मृतियां ताजा हो

गई। लोगों ने मुझे अनेक बार कहा कि आपको दक्षिण भारत जाना चाहिए। मेरी भी यहां आने की इच्छा हुई। किंतु अनेक कारणों से मैं बारह वर्षों तक यहां नहीं आ सका। इस बार दृढ़ संकल्प के साथ मैं यहां आया। यहां आने पर मैंने अनुभव किया कि मैं यहां बहुत देरी से आया। मुझे दक्षिण में बहुत पहले आना था। इस बार लगभग एक सौ साधु-साध्वियों को मैंने दक्षिण में छोड़ा है, जबकि उत्तर भारत में लगभग पांच सौ साधु-साध्वियां हैं। अब दक्षिण के काफी भाग की यात्रा कर मैं बैंगलोर (बैंगलुरु) में चातुर्मास हेतु पहुंचा हूं। मेरे चातुर्मासिक प्रवास में अणुव्रत का कार्यक्रम व्यापक रूप से चले और जनता ज्यादा-से-ज्यादा लाभान्वित हो, यह मेरी आकांक्षा है। अणुव्रत एक नैतिक आंदोलन है। नैतिकता की आवाज जन-साधारण तक पहुंचे, इसके लिए सबका सहयोग अपेक्षित है। पत्रकारों ने इस नैतिक अभियान को आगे बढ़ाने में सदा अपना योगदान दिया है। आपके बैंगलोर (बैंगलुरु) में भी यह अभियान सुंदर ढंग से चलेगा, ऐसा मैं विश्वास करता हूं।

अणुव्रत-अभियान क्यों

हमने कल से अणुव्रत-सप्ताह का प्रारंभ किया है। अणुव्रत पर मैं इतना बल क्यों देता हूं और बार-बार जनता के सामने इसे क्यों प्रस्तुत कर रहा हूं, इसे आप अनुभव करते ही होंगे, तथापि इसे एक बार फिर स्पष्ट कर दूं। भारतीय जनता जनतंत्र के वातावरण में जी रही है। वर्तमान में चालू शासन-प्रणालियों में जनतंत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है और जनतंत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान हैहप्रामाणिकता का, नैतिकता का। चारित्रिक बल के बिना जनतंत्र निष्प्राण हो जाता है। क्या चरित्र का विकास हुए बिना समाजवादी समाज की स्थापना की संभावना की जा सकती है?

मैं चरित्र-विकास को केवल वैयक्तिक संदर्भ में स्वीकार नहीं करता। सामुदायिक परिस्थितियों की अनुकूलता भी उसके लिए (चरित्र-विकास के लिए) बहुत जरूरी है। इसलिए मैं मानस-परिवर्तन या हृदय-परिवर्तन के साथ-साथ व्यवस्था-परिवर्तन को भी नितांत आवश्यक मानता हूं।

जरूरी है धर्म-क्षेत्र में बदलाव

सामाजिक मूल्यों की अर्थशून्यता, आर्थिक विषमता, राजनीतिक स्वार्थों की लोलुपता और धार्मिक विश्वासों की रूढ़िपरायणता की स्थिति में नैतिक विकास की संभावना धुंधली हो जाती है। इसलिए आज इन सबमें परिवर्तन

जरूरी है। धर्म के क्षेत्र से मेरा अधिक संबंध है, इसलिए मैं उसके विषय में एक दो प्रासंगिक बातें कहना चाहता हूँ। मैं समन्वय में विश्वास करता हूँ। सब धर्मों के प्रति मेरे मन में सद्भावना है। बावजूद इसके, समय-समय पर धर्म की आलोचना करता हूँ। किसी संप्रदायविशेष या अमुक-अमुक धर्म की नहीं, अपितु सामान्य धर्म की। वह मैं इसलिए करता हूँ कि हमारा धार्मिक जगत रूढ़ मान्यताओं से ऊपर उठकर आज के वैज्ञानिक युग में धर्म की तेजस्विता बनाए रख सके। मैं फिर यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि हर धर्म-संप्रदाय के प्रति मेरे मन में सद्भाव है और हमारा हर प्रयत्न इसी दिशा में होना चाहिए।

महावीर की पचीसवीं निर्वाण-शताब्दी

इस समय मैं एक और महत्वपूर्ण बात की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। वह यह है कि पांच वर्षों के पश्चात (ई.स. १९७४ में) भगवान महावीर के निर्वाण की पचीसवीं निर्वाण-शताब्दी मनाई जानेवाली है। उसके लिए प्रारंभिक कार्यक्रम शुरू हो गया है। जैन-समाज की एक सार्वदेशिक समिति बनी है। उसका कार्यालय मुंबई में है और वह इस दिशा में कार्य कर रही है। मेरा तेरापंथ संघ भी उस अवसर के लिए कुछ कार्य कर रहा है। उसके अंतर्गत भगवान महावीर की मूल वाणी (आगम) के संपादन का कार्य हो रहा है, जिसे मैं बहुत महत्वपूर्ण मानता हूँ। उस अवसर पर जैन विश्वभारती की स्थापना का भी चिंतन चल रहा है। उपयुक्त अवसर पर इस विषय में आपको बता सकूंगा।

चालू सप्ताह की अवधि में हमने एक हजार अणुव्रती बनाने का लक्ष्य बनाया है। मुझे विश्वास है कि बैंगलोरवासी इस नैतिक कार्यक्रम का मूल्यांकन करेंगे और संकल्प की पूर्ति में सहायक बनेंगे। जैसा कि मैंने कहा, आप पत्रकारों ने अणुव्रत की भावना को जनता तक पहुंचाने में पर्याप्त योग दिया है। आपका यह योग नैतिकता के विकास में एक महान योग है। चूंकि यह हम सबका काम है, इसलिए इस कार्य में सबके योग-सहयोग की कामना करता हूँ।

बेंगलुरु

१२ अगस्त १९६६

५७ : पत्र की सफलता का आधार

पत्र-पत्रिकाओं का महत्त्व

आज विचार-प्रसार का युग है। एक वह भी समय था, जब किसी संवाद को बाहर पहुंचाने में महीनों का समय लग जाता था। किंतु आज इस स्थिति में भारी बदलाव आ गया है। कुछ ही समय में किसी समाचार को न केवल अपने देश में, अपितु पूरे संसार में फैलाया जा सकता है। इस विचार-प्रसार के कार्य में पत्रकारों एवं पत्र-पत्रिकाओं का बहुत महत्त्व है। फूलों का सौरभ फैलाने में जो स्थान पवन का है, वही स्थान विचारों को फैलाने में पत्रकारों एवं पत्र-पत्रिकाओं का है। पत्रकारों के प्रयत्न से पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से विचार बहुत थोड़े समय में एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंच जाते हैं। जनमत जागृत करने की दृष्टि से भी पत्रकारों एवं पत्र-पत्रिकाओं का बहुत महत्त्व है। आज जबकि राष्ट्र में अनीति और भ्रष्टाचार बहुत बढ़ रहा है, देश के प्रबुद्ध पत्रकारों पर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी आती है कि वे नीति, न्याय और सदाचार का वातावरण निर्मित करें। पर यह कहते हुए मन में थोड़ा खेद होता है कि वर्तमान में ज्यादातर पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन व्यापार-बुद्धि से हो रहा है। उनका मुख्य लक्ष्य पैसा कमाना और ख्याति अर्जित करना है। इसे मैं उचित नहीं मानता। वास्तव में किसी भी पत्र की सफलता और विफलता उसके उद्देश्य, साधन और संचालकद्वय तीनों बातों पर निर्भर करती है। जिस पत्र का उद्देश्य अच्छा है, उसके साधन शुद्ध हैं और उसका संचालक नीतिनिष्ठ या अणुव्रती है, वह पत्र सफल क्यों नहीं होगा ?

दो सरदार

आज सरदार पत्रिका का प्रारंभ हो रहा है। एक अकिंचन संत के हाथों में पत्रिका का सबसे पहले आना संभवतः एक नई बात है। सरदार (सरदार वल्लभभाई पटेल) राष्ट्रीय एकता के प्रतीक थे। भारत के गृहमंत्री रहते हुए

उन्होंने अपने कार्यकाल में देश की छोटी-छोटी सैकड़ों रियासतें मिलाकर विशाल भारत बनाने का एक उल्लेखनीय कार्य किया था। एक वे सरदार थे और एक सरदार (पत्रिका) यह है। क्या मैं यह विश्वास करूं कि उस सरदार ही तरह यह सरदार (पत्रिका) भी देश में नैतिक एवं धार्मिक एकता स्थापित करने का प्रयास करेगी ?

जैसा कि पत्रिका के संपादक श्री एस. नागेंद्र ने बताया, यह सरदार (पत्रिका) राष्ट्र में एकता और शांति की स्थापना के लक्ष्य से प्रारंभ की जा रही है। मैं आशा करता हूं कि पत्रिका अपने इस पवित्र लक्ष्य की प्राप्ति में कामयाब होगी।

बेंगलुरु

३१ अगस्त १९६९

५८ : लेखकों और पत्रकारों का दायित्व

आप लोग इस बात से सुपरिचित हैं कि वर्तमान का युग प्रचारबहुल युग है। प्रचार के साधन जितने ज्यादा होंगे, हम लोग जनता के उतने ही अधिक निकट पहुंच पाने में सक्षम हो सकेंगे। इस दृष्टि से देखा जाए तो पत्र-पत्रिकाओं की बहुत उपयोगिता है। आज देश में बड़ी तादाद में पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हो रहा है। पर मुझे यह कहने में कोई कठिनाई नहीं कि पत्र-पत्रिकाओं की आम स्थिति बहुत संतोषजनक नहीं है। मुझे ऐसा प्रतिभासित हो रहा है कि बहुत-से पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन तो मात्र प्रवाह के रूप में चल रहा है। अधिकतर पत्रकारों का लक्ष्य जीवन-यापन करना, प्रसिद्धि प्राप्त करना और पैसा कमाना है। जन-हित के लक्ष्य से कार्य करनेवाले पत्रकार बहुत ही कम हैं।

राष्ट्र की एक बड़ी शक्ति

मैं ऐसा मानता हूँ कि लेखक और पत्रकार राष्ट्र की एक बहुत बड़ी शक्ति होते हैं। राष्ट्र का जनमत मोड़ने की उनमें अद्भुत क्षमता होती है। आज देश में चारों ओर भ्रष्टाचार फैला है। समाज का कोई भी वर्ग संभवतः ऐसा नहीं है, जो इस बुराई से सर्वथा अछूता हो। इस संदर्भ में यह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण है कि लोगों की न्याय, नीति और सदाचार के प्रति निष्ठा कम हो रही है। इस स्थिति में राष्ट्र के लेखकों एवं पत्रकारों पर यह एक गुरुतर जिम्मेदारी आ जाती है कि वे देश की जनता को न्याय, नीति और सदाचार की ओर आकृष्ट करें। उनके मन में इनके प्रति गहरी आस्था का भाव पैदा करें। मुझे ऐसा कहने में किंचित भी संकोच नहीं, बल्कि प्रसन्नता है कि जो पत्र-पत्रिकाएं राष्ट्र में न्याय, नीति और सदाचार का प्रचार कर रही हैं, उनके द्वारा वस्तुतः ही राष्ट्र की बहुत महत्त्वपूर्ण सेवा हो रही है।

अणुव्रत न्याय, नीति, सदाचार और मानवता की जन-जन में प्रतिष्ठा का एक व्यापक कार्यक्रम है। देश के लेखकों और पत्रकारों ने पत्र-पत्रिकाओं

के माध्यम से करोड़ों लोगों को अणुव्रत को पाठ पढ़ाया है। इस बात की मुझे सात्त्विक प्रसन्नता है। ऐसा कर उन्होंने प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में न्याय, नीति आदि तत्त्वों के प्रति जननिष्ठा पैदा करने का ही प्रयास किया है। ऐसा कहना अनुपयुक्त नहीं होगा। किंतु कहीं ऐसा न हो कि करोड़ों लोगों को अणुव्रत का पाठ पढ़ानेवाले स्वयं वह पाठ पढ़े बिना ही रह जाएं। उन्हें स्वयं अणुव्रती बनने की अपेक्षा है। मैं आशा करता हूँ कि लेखक और पत्रकार बंधु अणुव्रत की आचार-संहिता स्वीकार कर आत्महित तो करेंगे ही, राष्ट्र की भी बहुत बड़ी सेवा करेंगे।

बेंगलुरु

३१ अगस्त १९६६

५६ : सत्संग का लाभ

लोगों को सत्संग का लाभ उठाना ही चाहिए। भारतीय धर्म-शास्त्रों में सत्संग की बहुत महिमा गाई गई है और हर ऊंचे विचारक ने सत्संग के विषय में महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। बिना सत्संग का लाभ लिए मनुष्य का जीवन बनता ही नहीं, वह पशु ही रह जाता है। इतना तो स्पष्ट है कि विश्व के अन्य प्राणियों की तुलना में मनुष्य श्रेष्ठ है। तभी तो उसे सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहा जाता है। परंतु मनुष्य होने के नाते उसने अपना कर्तव्य भी समझा है क्या? अर्थार्जन कर लेना और खा-पीकर मस्ती में घूमनाहयही मनुष्य का लक्षण नहीं है। मानवता के अभाव में उसका जीवन अधूरा है। आपका यह केरल प्रदेश किसी जमाने में जैन-धर्म का प्रमुख केंद्र था। सत्य, अहिंसा, मैत्री की यहां पवित्र धारा बहती थी। परंतु समय की गति बड़ी विचित्र होती है। यद्यपि अब जैन-धर्म तो यहां से मिट गया है, तथापि जैन-संस्कृति आज भी यहां दिखाई पड़ती है। मुझे विश्वास है कि आज के सत्संग का आप लोग लाभ उठाकर अपने जीवन की बुराइयां दूर करने का प्रयास करेंगे।

६० : सत्संग की महिमा

धर्मग्रंथों में सत्संग की बहुत महिमा बताई गई है। एक क्षण-भर का सत्संग भी मनुष्य के जीवन में महान परिवर्तन ला सकता है। सत्संग का प्रभाव मात्र मनुष्य पर नहीं, बल्कि पशु-पक्षियों पर भी पड़ता है। मैं एक छोटी-सी कथा के द्वारा आपको यह बात समझाने का प्रयत्न करूंगा।

एक राजा अपने सैनिकों और अंगरक्षकों से बिछुड़कर जंगल से अकेला गुजर रहा था। मार्ग में एक वृक्ष पर एक तोता बैठा था। उसकी नजर जैसे ही राजा पर पड़ी, वह बोल उठा 'भागो, लूटो, मारो.....' राजा ने खतरा जान अपनी गति तेज की और वह शीघ्रता से दूर निकल गया। चलते-चलते वह एक आश्रम के पास पहुंचा। उसके दरवाजे के बाहर अवस्थित एक पेड़ पर भी एक तोता बैठा था। राजा को देखते ही वह मधुर स्वर में बोला 'स्वागतं! स्वागतं! पधारिए, भोजन कीजिए.....' राजा को बहुत आश्चर्य हुआ। दोनों तोते रूप-रंग में एक-सरीखे और दोनों की बोली व आचरण में इतना अंतर! उसने उस तोते से इस अंतर के बारे में जिज्ञासा की। तोते ने उत्तर दिया 'महाराज! हम दोनों तोते सहोदर हैं, एक ही माता की संतानें हैं। किंतु दोनों अलग-अलग संगत में पले-पुसे, बड़े हुए। यह अंतर उसी के कारण है। मेरा वह भाई जन्म के थोड़े दिनों पश्चात ही चोर-पल्ली में पहुंच गया। वहां चोर-डाकुओं की संगत में बड़ा हुआ तथा मैं इस आश्रम में साधु-संतों के पास बड़ा हुआ। अतः वह चोर-डाकुओं की भाषा बोलता है और मैं आश्रमवासियों की भाषा।' राजा को समाधान मिल गया।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने तो यहां तक लिख दिया है

तात! स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग।

तूले न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग॥

हृ यदि तराजू के एक पलड़े में स्वर्ग और मोक्ष के सुख रख दिए जाएं

तथा एक पलड़े में सत्संग, तो सत्संग का पलड़ा ही भारी होगा।
उसके समक्ष स्वर्ग और मोक्ष के सुख नगण्य हैं।

सौभाग्यशाली व्यक्तियों को ही सत्संग का अवसर मिलता है। आज विश्व धन के पीछे पागल हो रहा है। आप लोग भी सोचते होंगे कि धनवान व्यक्ति बहुत सुखी होगा, परंतु आज सही स्थिति यह है कि जो जितना अधिक धनवान है, वह उतना ही अधिक चिंतित है। इसलिए धन को आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए।

६१ : शुद्ध मन से प्रायश्चित्त करें

आज मैं आप कैदियों के बीच जेल में आया हूँ। आप लोग अपने अपराधों के दंडस्वरूप यहां सजा काट रहे हैं। कुछ लोगों ने सचमुच भयंकर अपराध किए होंगे, परंतु संभव है, उन्हें सजा कम मिली हो। कुछ लोगों ने कम अपराध में भी अधिक सजा पाई हो, यह भी संभव है। फिर इस संभावना को भी तो नहीं नकारा जा सकता कि कुछ लोग बिना किसी अपराध के भी कानून की चपेट में आ गए हों। जो कुछ भी हो, प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। आप लोगों में से बहुत-से व्यक्ति ऐसे हो सकते हैं, जो अपराध करने के बाद भी न्यायालय में असत्य बोले हों कि हमने अपराध नहीं किया है। परंतु वस्तुतः किसी के स्वीकार करने या न करने से तब तक कुछ होता नहीं है, जब तक कि हृदय से अपने पापों का प्रायश्चित्त न किया जाए। प्रत्येक मनुष्य का हृदय ही उसके कार्य का साक्षी होता है। आप लोगों को अपने किए हुए कर्मों को ध्यान में रखकर शुद्ध मन से प्रायश्चित्त करना चाहिए। मैं एक छोटी-सी कथा के द्वारा आपको यह समझाने का प्रयास करूंगा।

तीन चोर एक समान अपराध करने के अभियोग में राजा के सम्मुख उपस्थित किए गए। राजा ने तीनों को ध्यानपूर्वक देखने के पश्चात् एक को झिड़कते हुए कहाह 'तुमने ऐसा कार्य किया है! भविष्य में ऐसा नहीं होना चाहिए।' इतना कहकर उसे छोड़ देने का आदेश दिया।

दूसरे अभियुक्त को राजा ने फटकारते हुए पांच कोड़े लगाने का आदेश दिया। उसे भविष्य में ऐसा अपराध न करने के लिए सावधान भी किया।

तीसरे अभियुक्त को दंड सुनाते हुए राजा ने कहाह 'इसका शिर मुंड़ाकर, गधे पर बैठाकर ऊपर से जूते मारते हुए सारे नगर में घुमाया जाए।'

सारी सभा अवाक रह गई। मंत्री ने कहाह 'समान अपराध करनेवालों को राजा को समान दंड देना चाहिए, परंतु महाराज ने ऐसा नहीं किया है।

प्रजा में इससे असंतोष फैलेगा। वह कहेगी कि राजा पक्षपाती है।' मंत्री की बात सुनकर राजा ने कहाह 'एक काम करोहतीनों से अलग-अलग मिलकर आओ। फिर इस संदर्भ में आगे बात करेंगे।'

मंत्री पहले चोर के यहां गया। वह फांसी लगाकर मरने की पूरी तैयारी कर चुका था। मंत्री ने पहुंचते ही उसे शीघ्र पकड़ लिया और ऐसा करने का कारण पूछा। चोर ने कहाह 'आज तक राजा साहब ने मेरी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखा था। आज मुझे झिड़की मिली है। मैं अब राजा को मुंह दिखाने लायक नहीं हूं।' मंत्री ने उसे फांसी लगाकर न मरने के लिए किसी तरह राजी किया।

इसके बाद मंत्री दूसरे चोर के पास पहुंचा। वह व्यक्ति अपना सब सामान लेकर किसी दूसरे राज्य में जाने की तैयारी कर रहा था। मंत्री ने पूछाह 'ऐसा क्यों?' चोर ने कहाह 'अभी तक मैंने राजा की एक झिड़की भी नहीं सुनी थी। आज मुझे फटकार-सहित पांच कोड़े लगे। मैं अपने कृत पर बहुत शर्मिदा हूं। इस राज्य में अब रहना नहीं चाहता। इसलिए छोड़कर जा रहा हूं।' मंत्री ने समझा-बुझाकर उस चोर को भी राज्य छोड़कर जाने से रोका।

अब मंत्री तीसरे चोर के पास पहुंचा। वह शिर मुंड़ाए हुए गधे पर बैठा था और ऊपर से जूता खाते हुए नगर के एक भाग में घूमकर अपने घर के पास पहुंचा था। पहुंचते ही वह अपनी पत्नी से बोलाह 'तुम पानी गरम करके रखो। अब थोड़ा ही घूमना बाकी रह गया है। मैं वापस आते ही अपना काला मुंह धो डालूंगा। कोई खास बात नहीं।' मंत्री इस तीसरे चोर की बात सुनकर अवाक रह गया। वहां से चलकर वह राजा के पास पहुंचा और उसने राजा के न्याय की मुक्त कंठ से सराहना की।

आप लोगों ने कहानी का मर्म अच्छी तरह से समझ लिया होगा। आप लोग जिस समय जेल से बाहर जाएं, उस समय सुंदर जीवन जीने का प्रयास करें। वर्तमान में जो गलती हुई है, भविष्य में उसे न दुहराने के लिए संकल्पित हों। अणुव्रत के चार नियम मैं आप सबके समक्ष रखता हूंह १. शराब नहीं पीना २. चोरी नहीं करना ३. हत्या नहीं करना ४. तंबाकू का सेवन नहीं करना।

आशा है, आप सब लोग ये नियम स्वीकार कर अपना जीवन उज्ज्वल बनाएंगे।

६२ : अपराध-मुक्ति का मार्ग

दो तरह की कैद

आज मैं एक ऐसी जगह आया हूँ, जिसे बंदीगृह (जेल) कहा जाता है, क्योंकि यहां रहनेवाला अनुभव करता है कि मैं बंदी हूँ। यह तो आप लोग जानते ही हैं कि जेल उसके लिए होती है, जो अपराधी होता है। एक अपेक्षा से देखा जाए तो हमारा यह शरीर सबसे बड़ी जेल है, क्योंकि हमारी उन्मुक्त-विहारी आत्मा इसमें कैद है। यह हमारे कृत अपराध का ही परिणाम है। इस विवक्षा से संसार के छोटे-बड़े सभी प्राणी कैदी हैं। किंतु यह दूसरी कैद क्यों भुगतनी पड़े? ऐसा लगता है कि आप लोगों से बड़े-बड़े अपराध हुए हैं। पर मैं नहीं जानता कि आज अपराधी कौन नहीं है। बड़े-बड़े मंत्रियों, उच्चाधिकारियों तथा प्रसिद्ध उद्योगपतियों के अपराध भी जब-तब सामने आते रहते हैं। पर यहां कठिनाई यह है कि बहुत-से अपराधी तो पैसे के बल पर अपराध-मुक्त हो जाते हैं। इसके विपरीत पैसे के अभाव में बहुत-से लोगों को छोटे-छोटे अपराध के लिए भी बहुत बड़ा दंड भोगना पड़ता है। किंतु इस संदर्भ में आप लोगों को एक बात याद रखनी चाहिए कि यदि किसी ने अपराध किया है तो उसे उसका दंड अवश्य भोगना पड़ेगा। वस्तुतः यह तो छोटी जेल है। इसके बाद एक बड़ी जेल और है, जो बड़ी भयंकर कष्टप्रद है और जहां किसी प्रकार की रिश्वत नहीं चलती। वहां हर प्राणी को अपने अपराध का दंड भुगतना ही पड़ता है। उसका कोई अपवाद नहीं हो सकता।

अपराध-मुक्ति का उपाय

यह बात आप सभी लोगों को बहुत गहराई से हृदयंगम करने की अपेक्षा है कि जब तक व्यक्ति अपने अपराध को अपराध नहीं समझेगा, तब तक उससे उसका छुटकारा संभव नहीं। मेरी दृष्टि में अपराध से छुटकारे के तीन उपाय अथवा मार्ग हैं—

१. अपना अपराध सच्चे दिल से स्वीकार करना।
२. अपराध स्वीकार कर स्वयं प्रायश्चित्त करना।
३. भविष्य में पुनः कभी अपराध न करने का संकल्प करना।

मेरा विश्वास है कि व्यक्ति भले किसी तीर्थ, मंदिर, मठ, मस्जिद, गिरजाघर या धर्मस्थान में चला जाए, पर यदि वह इन तीनों रास्तों को नहीं अपनाएगा, तब तक अपराध से मुक्ति मिलना असंभव है।

घृणा करना पाप है

आजकल जेलों की व्यवस्था में काफी सुधार हुआ है। प्राचीन समय में कैदियों को काल-कोठरियों में रहना पड़ता था। आजकल ऐसी स्थिति नहीं है। मेरा ऐसा चिंतन है कि भले जेल में आनेवाले कैदियों से अपराध हुआ हो, पर उनके प्रति घृणा का भाव रखना पाप है। उन्हें भी मनुष्य की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। जो अधिकारी करुणाप्रधान और विवेकसंपन्न होते हैं, वे कैदियों के साथ कभी अमानवीय व्यवहार नहीं कर सकते। जिन कैदियों ने किसी भी प्रकार का अपराध किया है, उन्हें भी चाहिए कि वे अपना-अपना अपराध सरल और सच्चे हृदय से स्वीकार करें। हमने अपराध-शुद्धि का एक आंदोलन चलाया है। उसका नाम हैहअणुव्रत। इसके छोटे-छोटे संकल्प स्वीकार कर आदमी अपराधों से दूर हो सकता है।

संतों की भेंट

आज मैं चलकर आपके पास आया हूं। अतः आपका यह शिष्ट कर्तव्य है कि आप मुझे कुछ भेंट दें। आपकी जेल के निरीक्षक महोदय (Superintendent) ने फूलमाला और फलों द्वारा मेरा स्वागत किया। किंतु आप जानते हैं कि मैं एक जैन-मुनि हूं। इस नाते ये वस्तुएं मेरे लिए ग्राह्य नहीं हैं। रुपए-पैसे भी मुझे स्वीकार्य नहीं हैं। फिर भेंट क्या होगी? आप अपना-अपना अपराध ऋजुतापूर्वक स्वीकार कर लें, यही आपकी ओर से मेरे लिए सबसे अच्छी भेंट होगी। साथ ही इस बात को भी अच्छी तरह से याद रखें कि संतों के समक्ष अपना अपराध स्वीकार करना भगवान के समक्ष अपराध स्वीकार करना है।

सेंट्रल जेल, बेंगलुरु

१२ सितंबर १९६६

६३ : शक्ति, अभिव्यक्ति और विरक्ति

शक्ति, अभिव्यक्ति और विरक्तिहृये तीन तत्त्व हैं। भगवान के लिए भक्ति की उपादेयता नहीं। भक्त भक्ति करता है। किंतु उसमें शक्ति, अभिव्यक्ति और विरक्ति चाहिए। इनके अभाव में भक्ति का कोई मूल्य नहीं होता। दूसरे शब्दों में कोरी शाब्दिक भक्ति का मूल्य नहीं होता।

आत्मा का आवरण और कर्मों का बंधन तोड़ने के लिए शक्ति चाहिए। शक्ति अर्थात् पराक्रम, पौरुष या पुरुषार्थ। इसके अभाव में बंधन टूट नहीं सकते। मान लें कि शक्ति है, किंतु यदि उसकी अभिव्यक्ति न हो तो वह काम नहीं आती। जिनके पास शक्ति है, उन्हें उसे प्रकट करने का प्रयत्न करना चाहिए। उसका प्रकटीकरण होना चाहिए। शक्ति का उपयोग किया जाए, अन्यथा वह अकिंचित्कर हो जाएगी। दांत खाने के लिए होते हैं, किंतु यदि उन्हें चबाने के काम में नहीं लिया जाता है तो वे सब निकम्मे हो जाते हैं।

शक्ति है और वह अभिव्यक्त भी है, किंतु यदि उसको आसक्ति में लगा दिया तो गलत हो जाएगा। शक्ति और उसकी अभिव्यक्ति विरक्ति में लगनी चाहिए। विरक्ति पूर्ण वैराग्य भी हो सकती है और अंशतः भी। प्रत्येक कार्य में थोड़ी अनासक्ति और विरक्ति रहनी चाहिए।

ये सारी बातें चालना करने से आती हैं, प्रेरणा से प्राप्त होती हैं। यों ही नहीं आ सकतीं।

६४ : लज्जा विशुद्धि का हेतु है

आज का जन-जीवन निश्चेतन हो गया है। वह नाना प्रकार की बुराइयों से भरा पड़ा है। उसका विशुद्धीकरण आवश्यक है। *दसवेआलियं* में कहा गया है *हैहलज्जादयासंजमबंभचेरं, कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं*। अर्थात् लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्यहये चारों अपना कल्याण चाहनेवाले के लिए विशुद्धि के स्थान हैं।

लज्जा कैसी होनी चाहिए? लज्जा ऐसी होनी चाहिए, जो आत्मा का उत्थान करे। वैसी लज्जा मेघकुमार ने की थी। मेघकुमार दीक्षित हुए। प्रथम दिन था। रात्रि में कहीं दरवाजे के आगे सो गए। रात में आने-जानेवालों साधुओं की ठोकें लगीं। सारी रात जागरण-सा हुआ। मन में सोचाहूँ ऐसा साधुपन नहीं पालना है। सुबह उठकर भगवान महावीर के पास गए। भगवान ने पूछाहूँ 'क्यों मेघकुमार! क्या बात है?' मेघकुमार कुछ भी न बोल सके। भगवान ने कहाहूँ 'रात्रि की मामूली-सी तकलीफ से घबराकर घर जाना चाहता है। एक तेरा वह कष्टपूर्ण पूर्वजन्म था, जिसके फलस्वरूप तू इस जन्म में राजपुत्र बना।' मेघकुमार ने अपने पूर्वजन्म को जानने की कामना भगवान के आगे प्रकट की।

भगवान ने कहाहूँ 'तू पूर्वजन्म में हाथी था। अपने दल का मुखिया था। जिस जंगल में तू मुखिया था, उसमें एक बार दावानल लगा। तेरे रहने का स्थान सुरक्षित था, अतः जंगल के सभी जीव-जंतु भाग-भागकर तेरे यहां आ गए। तूने खुजलाने के लिए एक पैर ऊपर उठाया और उस रिक्त स्थल की पूर्ति एक खरगोश ने कर दी। अब पैर नीचे कैसे रखे? खरगोश की हत्या होने का भय जो था। अतः तूने अपना पैर ऊंचा उठाए रखा और उस समय तक ऊंचा उठाए रखा, जब तक कि दावानल शांत नहीं हो गया। जब जगह खाली हुई, तब तूने पैर नीचे रखना चाहा। परंतु पैर एकदम अकड़ चुका था और तू उसी क्षण गिर पड़ा और कालधर्म को प्राप्त हो गया। इसी का फल

है कि तू राजकुमार बना। यद्यपि तू उस समय साधु नहीं था, श्रावक नहीं था, सम्यक्त्वी भी नहीं था और न इन सब गुणों को समझनेवाला ही था, फिर भी तेरी आत्मा ने पैर के नीचे आए हुए जीव को दबोच कर नहीं मारने दिया। अब तू साधु है, त्यागी है और इतनी-सी तकलीफ के कारण इस शरीर का इतना मोह कर रहा है!' मेघकुमार की आंखें खुल गईं। यह वह लज्जा है, जो आदेय है, उपादेय है।

यह दया भी है। यह वह दया है, जो आदेय है, उपादेय है।

६५ : आत्म-निरीक्षण का दिन*

आज १५ अगस्त है। इस दिन का भारतवर्ष के लिए अत्यंत महत्त्व है, क्योंकि एक अपेक्षा से यह इस राष्ट्र के लिए सबसे बड़ा राष्ट्रीय पर्व है। आज के दिन ही भारतवासियों को सैकड़ों वर्षों की गुलामी के पश्चात स्वतंत्रता मिली थी। इसलिए आज किसी व्यक्तिविशेष की नहीं, अपितु स्वतंत्रताप्राप्त भारतीय नागरिकों की वर्षगांठ का दिन है। चूंकि वर्षगांठ का दिन आत्म-निरीक्षण का दिन होता है, अतः आज के दिन को मैं प्रत्येक भारतीय के लिए आत्मनिरीक्षण का दिन मानता हूं। भगवान महावीर ने आत्म-निरीक्षण का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया **हकिं मे परो पासइ? किं च अप्पा? किं वाहं खलियं न विवज्जयामि?** हक्या मेरा प्रमाद कोई दूसरा देखता है अथवा मैं स्वयं देख लेता हूं? वह ऐसी कौन-सी खलना है, जिसे मैं नहीं छोड़ रहा हूं?

आत्म-निरीक्षण के उपर्युक्त सूत्र के परिप्रेक्ष्य में समझने की बात यह है कि व्यक्ति स्वयं अपने बारे में क्या सोचता है और दूसरे लोग उसके बारे में क्या सोचते हैं; वह स्वयं को किस रूप में देखता है और दूसरे उसे कि रूप में देखते हैं; वह स्वयं को स्थूल दृष्टि से देखता है या सूक्ष्म दृष्टि से; वह स्वयं को बाह्य चर्म-चक्षुओं से देखता है अथवा आंतरिक ज्ञान-चक्षुओं से। मूलभूत बात यह है कि बाहर की दुनिया भिन्न है और अंतर की दुनिया भिन्न। तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो बाह्य जगत की तुलना में अंतर्जगत अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। पर अपने अंतर्जगत को कोई भी व्यक्ति चर्म-चक्षुओं से नहीं देख सकता। उसे तो अंतश्चक्षुओं से ही देखा जा सकता है। बाह्य जगत में आज भारतवर्ष स्वतंत्र है, भारतवासी स्वतंत्र हैं, पर अंतर्जगत में स्वतंत्र हैं या नहीं, यह एक प्रश्न है। यदि अंतर में वैमनस्य की ग्रंथियों से बंधे हुए हैं तो कहना चाहिए कि राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र होकर भी वे

* २३वें स्वतंत्रता-दिवस के अवसर पर प्रदत्त प्रवचन।

वस्तुतः स्वतंत्र नहीं हैं। बाह्य बंधन या परतंत्रता से भी आंतरिक बंधन या परतंत्रता ज्यादा भयंकर है, ज्यादा अहितकर है। जब तक राग और द्वेष या वैमनस्य के आंतरिक बंधन शिथिल नहीं होते, टूटते नहीं, तब तक राजनीतिक स्वतंत्रता का आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत महत्त्व नहीं है। मैं आंतरिक बंधनों से मुक्त होने को ही वास्तविक या असली आजादी मानता हूँ। जिस दिन भारतवासी राग, द्वेष, क्रोध, अहंकार, माया, लोभ आदि आंतरिक ग्रंथियों से मुक्त होंगे, उस दिन ही उन्हें वास्तविक आजादी मिल सकेगी। १५ अगस्त के इस पर्व-दिवस पर प्रत्येक भारतीय नागरिक अपने आंतरिक बंधन शिथिल और निर्मूल करने की दिशा में चरणन्यास करे, ऐसी अपेक्षा है।

बेंगलुरु

१५ अगस्त १९६६

६६ : प्रवाह में न बहें

हमारा दृष्टिकोण गुणग्राही होना चाहिए। अच्छाई का अंकन और ग्रहण व्यक्ति के स्वस्थ चिंतन और उदार मानस का द्योतक है। इसी के द्वारा वह विकास के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है।

गुणग्राहकता और भावुकता दो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। जहां गुणग्राहकता व्यक्ति के लिए वरदान बनती है, वहीं केवल भावुकता के चलते कभी-कभी व्यक्ति अपनी हित-साधना से वंचित रह जाता है। वह एकाएक दूसरों के प्रवाह में बह जाता है।

भावुकतावश एकाएक दूसरों के प्रवाह में बह जाने की भारतीय मानस की कमी मुझे सबसे अधिक खलती है। मैं इसे अपने स्वत्व और पुरुषार्थ के प्रति अनास्था की वृत्ति मानता हूं। हमें अपने पुरुषार्थ के प्रति आस्था होनी चाहिए। प्रवाह में बहकर यदि हम भी कुछ करके दिखलाएं तो वह निस्संदेह उपयोगी बात होगी, अन्यथा केवल प्रवाह में बहना अकर्मण्यता का द्योतक होगा। बेशक, दूसरों में अच्छी बातें हो सकती हैं, किंतु वे केवल प्रवाह में बहने के लिए नहीं होतीं। अलबत्ता उनका उचित अंकन और स्वीकरण अवश्य किया जा सकता है।

दूसरों की अच्छाई का सम्मान करें

किंतु दूसरों के प्रवाह में न बहने का अर्थ यह नहीं है कि हमारे जीवन में छिद्रान्वेषण की वृत्ति पनपे। यह छिद्रान्वेषण की वृत्ति तो व्यक्ति को अपने नैतिक स्तर से भी च्युत कर देती है। हम दूसरों की अच्छी बात का उचित सम्मान करना सीखें। वह सम्मान हमारी अपनी गुणग्राहकवृत्ति का सम्मान होगा। हम दूसरों की अच्छी बात को सम्मान देंगे तो दूसरे भी हमारी अच्छी बात का सम्मान क्यों नहीं करेंगे? अवश्य करेंगे।

पुरुषार्थी बनें

महावीर ने हमें पुरुषार्थ का दर्शन दिया है। भविष्य की उज्ज्वल रेखाएं

पुरुषार्थ के पटल पर ही उभरती हैं। महापुरुषों के महान कार्यों का उद्गम-स्रोत पुरुषार्थ है। वैज्ञानिक प्रगति का मूल आधार भी पुरुषार्थ है। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षियों ने पुरुषार्थ के द्वारा अपना लक्ष्य प्राप्त किया है। जब छोटे-छोटे जीव-जंतु और कीड़े-मकोड़े भी पुरुषार्थ कर अपना पेट भरते हैं, तब विवेकशील मनुष्य पुरुषार्थ के प्रति उदासीन होकर बैठ जाए, इससे अधिक चिंता का विषय और कोई नहीं हो सकता। हम अपने पुरुषार्थ के प्रति आस्थावान बनकर सत्कर्म में प्रवृत्त हों, केवल प्रवाह में न बहें, यही हमारे लिए करणीय और आदेय है।

६७ : समाज रूढ़िमुक्त बने

आज भारतीय समाज रूढ़ियों तथा गलत परंपराओं में बुरी तरह जकड़ा हुआ है। दहेज-जैसी परंपरा, जिसने हजारों-हजारों घर उजाड़ दिए, आज भी अपने नग्न और विकृत रूप में समाज के सामने खड़ी है। इसी प्रकार परदा-प्रथा भी एक रूढ़ि के रूप में समाज में अपना अस्तित्व बनाए हुए है। मैं चाहता हूँ कि भारतीय समाज जीवन की स्वस्थता के लिए इन रूढ़ियों से मुक्त हो। पर इस संदर्भ में एक बात की सावधानी रखने की नितांत अपेक्षा है। परदा हटाने का यह अर्थ कदापि नहीं कि फैशनपरस्ती बढ़े। यह तो कुएं से निकलकर खाड़ में गिरनेवाली बात होगी। ऐसी गलती बिलकुल नहीं होनी चाहिए। अपेक्षित यही है कि महिला-समाज सविवेक परदे की रूढ़ परंपरा से मुक्त होकर सादगी और सात्त्विकता का जीवन जिए। अणुव्रती बननेवाली बहनों को तो इसका विशेष लक्ष्य रखना चाहिए। यह नहीं हो सकता कि लोग अणुव्रती भी बनते रहें और रूढ़ परंपराएं भी निभाते रहें। मैं इस विसंगति को बिलकुल पसंद नहीं करता।

‘अणुव्रत’ देश में नैतिकता और मानवता का वातावरण बनाने का महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है। लेकिन मुझे इस बात का आश्चर्य है कि दूर-दूर के लोगों ने इसे जितनी गहराई से समझा और अपनाया है, उतना निकट रहनेवाले लोगों ने नहीं। मैं चाहता हूँ कि हमारे निकट रहनेवाले लोग भी इस आंदोलन का उचित मूल्यांकन करें, महत्त्व आंकेँ और संकल्प के स्तर पर अणुव्रती बनें। ध्यान रहे, अणुव्रती बनने का अर्थ तेरापंथी बनना नहीं है। अणुव्रती बनने का अर्थ हैहैनैतिक और प्रामाणिक जीवन जीने का संकल्प करना।

बेंगलुरु

२२ नवंबर १९६६

६८ : मन को व्यग्र होने से कैसे बचाएं

सामायिक कहां करें, कैसे करें

श्रावक के बारह व्रतों में से नवां व्रत हैहसामायिक। सामायिक का अर्थ हैहसमता की आय। यानी जिस धार्मिक अनुष्ठान से समता की आय होती हो, वह सामायिक है। हालांकि सामायिक कहां करनी चाहिए, कब करनी चाहिए आदि बातों का कोई निश्चित विधान नहीं है, तथापि इतना बहुत स्पष्ट है कि सामायिक करने का स्थान एकांत-शांत होना चाहिए। यह इसलिए कि बाह्य वातावरण का सामायिक-जैसे आध्यात्मिक अनुष्ठानों पर बहुत असर पड़ता है। यहां दक्षिण भारत में मैंने देखा कि घर-घर में एक-एक उपासनागृह है। इस उपासना-गृह में घर-परिवार के सदस्य धार्मिक उपासना करते हैं। मेरा मानना है कि यह एक स्वस्थ परंपरा है। वैसे मूलभूत बात हैहृएकांत स्थान की। भले किसी के घर में उपासना-गृह न भी हो, फिर भी व्यक्ति को इस बात का ध्यान तो अवश्य रखना चाहिए कि सामायिक करने का स्थान शांत-एकांत हो।

काल के चुनाव में भी सावधानी रखने की अपेक्षा है। सामायिक का काल ऐसा होना चाहिए कि उसके अंतर्गत की जानेवाली जाप, ध्यान, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग आदि विभिन्न आध्यात्मिक प्रवृत्तियों में चित्त की एकाग्रता बनी रहे, किसी प्रकार का विक्षेप या व्यवधान पैदा न हो।

मैं देख रहा हूं कि आजकल के युवक सामायिक करने में शर्म महसूस करते हैं। मैं उनसे कहना चाहता हूं कि वे सामायिक के संदर्भ में अपनी दृष्टि सम्यक बनाएं। इसमें अशिष्टता-जैसी कोई बात तो है ही नहीं, अपितु कहना चाहिए कि यह तो शिष्टता का एक सुंदर उपक्रम है। इसको निष्ठा और विधिपूर्वक करने से व्यक्ति के जीवन में सुसंस्कारों का जागरण होता है।

एक समस्या : एक समाधान

कुछ लोगों की यह शिकायत रहती है कि सामायिक में हमारा चित्त एकाग्र नहीं रहता। वह इधर-उधर भटकता रहता है। मैं उनसे कहना चाहता हूँ कि यदि आपका मन इधर-उधर जाने से नहीं रुकता है तो भी आपको चिंतित होने की कोई अपेक्षा नहीं है। इस संदर्भ में एक कवि ने कहा हैह

मन जाए तो जान दो, रोके रखो शरीर।

खींचे बिन कमान का, किस विध जाए तीर॥

कवि का मंतव्य है कि यदि व्यक्ति का मन व्यग्र बनता है, भटकता है, चंचल होता है तो वह घबराए नहीं, अपने शरीर पर अपना नियंत्रण रखे, उसे बेकाबू न होने दे। यदि इतना ध्यान रख लिया तो वह अहित होने से बच जाएगा। धनुष से तीर तभी छूटता है, जब उसकी प्रत्यंचा को खींचा जाता है। जब तक उसे नहीं खींचा जाता, तब तक उससे तीर नहीं छूट सकता।

कवि के इस अभिमत के विरुद्ध यह कहा जाता हैहमन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। मैं इस मान्यता में संशोधन करते हुए कहना चाहता हूँ कि यदि व्यक्ति का तन और वचनहये दोनों सहारा न दें तो अकेला मन उसका बहुत अहित नहीं कर सकता। संस्कृत व्याकरण में मन को नपुंसकलिंग माना गया है। वह क्लीव है, बेशर्म है, निर्लज्ज है, शक्तिहीन है। यदि व्यक्ति का अपने शरीर और वाणी पर नियंत्रण है तो वे मन को भी काबू में कर लेंगे। काबू में कर लेने से तात्पर्य है कि वे उसे सत्प्रवृत्त बना देंगे। मूलतः निठल्ला मन शैतान का घर होता है। वही विभिन्न संकल्पों-विकल्पों में उलझता है।

एक व्यक्ति ने किसी भूत को साध लिया। भूत उसके समक्ष उपस्थित हुआ और बोलाहमैं तुम्हारी सेवा करूंगा, तुम्हारे द्वारा बताया गया हर कार्य करूंगा, पर मेरी एक शर्त है कि मुझे निरंतर कोई-न-कोई कार्य देना होगा। मैं खाली नहीं बैठ सकता। यदि मुझे कोई कार्य नहीं दिया तो मैं तुम्हें ही खा जाऊंगा।' उस व्यक्ति ने भूत की यह शर्त मंजूर कर ली। भूत ने काम पूछा। उस व्यक्ति ने उसे कोई काम बता दिया। भूत ने झट वह कार्य संपन्न कर दिया। उसने दूसरा काम पूछा। उस व्यक्ति ने दूसरा काम बताया। भूत ने वह भी तत्काल पूरा कर दिया। उस व्यक्ति ने देखा कि यह भूत तो घंटों का काम मिनटों में पूरा कर देता है। इस स्थिति में उसके मन में चिंतन आया

कि इस भूत को क्या साधा, यह तो मैंने अपने लिए एक आफत मोल ले ली, अपनी मौत को ही निमंत्रण दे दिया। यों मैं इसे कितने काम बताऊंगा और काम न मिलने पर यह मुझे ही खा जाएगा। अब क्या किया जाए? सोचते-सोचते उसे एक युक्ति सूझी। उसने अपने भवन के प्रांगण में एक खंभा गड़वा दिया और उस भूत से कहा कि जब मैं अन्य किसी कार्य के लिए कहूँ, तब तुम वह कार्य किया करो, अन्यथा इस खंभे पर चढ़ते-उतरते रहो।' अब उस भूत के निठल्ले रहने की समस्या समाप्त हो गई।

हमारे मन की भी यही स्थिति है। व्यग्र या चंचल बनने से बचाए रखने के लिए उसे सत्प्रवृत्त बना रखना जरूरी है। फिर वह हमारा किसी भी प्रकार का अनिष्ट नहीं कर सकेगा। सामायिक में निठिल्ला न बैठकर व्यक्ति ध्यान, जाप, स्वाध्याय आदि में प्रवृत्त रहता है तो मन की भटकन से सहजतया बच सकता है। मैं आशा करता हूँ कि युवक लोग इस बात पर अपना ध्यान केंद्रित करते हुए निष्ठापूर्वक सामायिक का अभ्यास करेंगे।

बेंगलुरु

२४ अक्टूबर १९६६

६९ : शास्त्रों की बातें प्रयोगसिद्ध बनाएं

हम आत्मवान हैं। स्वरूपतः आत्मा अरूप है, अमूर्त है। किंतु वर्तमान में हमारे में से किसी की भी आत्मा अपने मूल स्वरूप में नहीं है। वह पुद्गलों (कर्मों) से युक्त है। इसलिए वह मूर्त दिखाई देती है। इसलिए उसे कथंचित मूर्त और कथंचित अमूर्त मान सकते हैं। वैसे हमारा लक्ष्य आत्मस्वरूप को प्राप्त करना है। यानी पुद्गलों (कर्मों) से सर्वथा मुक्त होकर अमूर्तावस्था को प्राप्त करना है। तात्त्विक दृष्टि से आत्मा सर्वथा अमूर्त सिद्धावस्था में होती है। इसलिए हम ऐसा कह सकते हैं कि सिद्ध बनना हमारे जीवन का परम ध्येय है।

आत्मस्वरूप प्राप्त करने की दो प्रक्रियाएं

आप मिट्टी-मिश्रित सोना देखते हैं। वह सोना-जैसा नहीं लगता। केवल सोने की थोड़ी चमक दिखाई देती है। फिर विभिन्न प्रक्रियाओं से गुजारकर उसे शुद्ध सोने का रूप दिया जाता है। आत्मा का भी शुद्ध स्वरूप प्राप्त करने के लिए संवर और निर्जराहये दो प्रक्रियाएं अपनाना जरूरी है। संवर की प्रक्रिया के द्वारा हम नए पुद्गलों (कर्मों) को आत्मा के साथ जुड़ने से रोकते हैं और निर्जरा की प्रक्रिया के द्वारा अपने पूर्वार्जित पुद्गलों (कर्मों) को आत्मा से हटाते हैं। हमारे *आगमों* में और उत्तरवर्ती ग्रंथों में ये दोनों प्रक्रियाएं सविस्तार समझाई गई हैं। हम सभी को सलक्ष्य इन प्रक्रियाओं को अच्छे ढंग से समझना चाहिए, ताकि आत्मस्वरूप की प्राप्ति के चरम लक्ष्य तक पहुंचा जा सके।

लेश्या के विभिन्न वर्णों के फोटो

मेरा चिंतन है कि यदि ये दोनों प्रक्रियाएं तथा इस तरह की अन्य अनेक बातें अच्छे ढंग से नहीं समझी जाती हैं तो शास्त्र हमारे लिए भारभूत बन जाएंगे। आप देखें कि एक तरफ धार्मिक लोग धर्मशास्त्रों की दुहाई देते नहीं अघाते और दूसरी ओर वैज्ञानिक लोग हमारे *आगमों* पर शोध-कार्य

करके नए-नए तथ्यों का उद्घाटन कर रहे हैं। मुझे आश्चर्य होता है कि जिन व्यक्तियों को अनार्य, म्लेच्छ, नास्तिक और अधार्मिक माना गया, उन्होंने हमारे आगमों में वर्णित लेश्याओं के विभिन्न वर्णों के फोटो ले लिए हैं और आगे भी इस क्षेत्र में शोध-कार्य चालू है। लेश्याओं के विभिन्न वर्णों के फोटो लेने का तात्पर्य हैह्रमानसिक अध्यवसायों तक पहुंचना। उन्होंने इस प्रकार का अतिसंवेदनशील यंत्र या केमरा विकसित किया है, जो व्यक्ति के मानसिक अध्यवसायों के विभिन्न वर्ण पकड़ने में सक्षम है।

चमत्कारी डंडा

मानसिक अध्यवसायों के विभिन्न वर्णों को पकड़ने में सक्षम यंत्र के संदर्भ के एक प्रतीकात्मक कथा मेरी स्मृति में आ रही है। गुरु ने शिष्य की सेवा से प्रसन्न होकर उससे कहाह्र'मैं तुम्हें एक चमत्कारी डंडा देता हूं। इस डंडे को तुम जिस-किसी व्यक्ति के सामने करोगे, उसके मन का चित्र तुम्हारे सामने आ जाएगा। तुम उसके गुण-दोष, सद्भाव-दुर्भाव सबसे परिचित हो जाओगे।' गुरु ने शिष्य को वह डंडा क्या दिया, बंदर के हाथ में तलवार देनेवाली-सी बात हो गई। अब शिष्य के लिए साधना तो गौण हो गई और डंडे के द्वारा दूसरों की कमियां देखनाह्रयह प्रमुख कार्य हो गया। वह दिन-भर डंडा अपने पास रखता और जो भी भक्त गुरु के पास आता, उसकी तरफ वह डंडा कर उसके अवगुण देख लेता। फिर सबके सामने उसके वे अवगुण प्रकट करता। भक्तों को उसकी यह प्रवृत्ति बहुत अखरती। कुछ लोग गुरुजी से शिकायत भी करते। पर गुरुजी उन्हें समझा-बुझाकर शांत करते। अब गुरुजी को अपनी भूल का अनुभव हुआ। उनके मन में इस बात का बहुत अनुताप था कि मैंने अविनीत-अपात्र के हाथ में यह विशिष्ट डंडा दे दिया। फिर अब उससे उसे वापस लेना भी संभव नहीं है।

एक दिन शिष्य के मन में विचार आया कि ये गुरुजी सदा हम शिष्यों की कमियां निकालते रहते हैं। अच्छा होगा कि आज मैं इनकी जांच कर देखूं कि ये कैसे हैं। इस चिंतन के साथ ही उसने वह डंडा गुरुजी की तरफ किया। डंडा सामने करते ही गुरुजी के अंतर का सारा चित्र उसके सामने आ गया। उसने देखा कि गुरुजी के अंतर में क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या आदि के स्फुलिंग उछल रहे हैं। यह देखा कि न देखा, उसके मन में गुरु के प्रति पूज्यता एवं श्रद्धा का भाव समाप्त हो गया। उसके मन में चिंतन आया कि ऐसे गुरु के पास रहने से कोई लाभ नहीं और इस चिंतन के साथ ही उसने

निर्णय कर लिया कि मैं अब इनके पास नहीं रहूंगा। निर्णय कर वह गुरु के पास पहुंचा और उसने वहां से जाने की आज्ञा मांगी। गुरु अंतर्दृष्टिसंपन्न थे, अनुभवी थे। उन्हें यह समझते देर नहीं लगी कि इसने डंडे से मेरी दुर्बलताएं देखी हैं। उसी का यह परिणाम है। पर उन्होंने इस संदर्भ में शिष्य से कुछ भी नहीं कहा। उससे तो मात्र इतना-सा कहा कि 'तुम जाना चाहते हो तो जा सकते हो। मुझे कोई आपत्ति नहीं। मैं किसी को बांधकर नहीं रखता। पर जाने से पहले एक बार वह डंडा जरा अपनी ओर करके भी देख लो तो अच्छा रहेगा।' शिष्य ने स्वयं की ओर वह डंडा किया तो अवाक रह गया। जिन विकारों के अस्तित्व के कारण वह गुरु को छोड़कर जा रहा था, उनके बड़े-बड़े पर्वत खड़े थे उसके अंतर में। उनकी तुलना में गुरु के विकार तो अणु मात्र थे। शिष्य की आंखें खुल गईं। उसे भान हुआ कि गुरु तो मुझसे लाखगुना अच्छे हैं। इसके साथ ही वह क्षमा मांगते हुए गुरु के चरणों पर गिर पड़ा।

इस कहानी में डंडा एक प्रतीकात्मक यंत्र है। आज वैज्ञानिकों ने अति संवेदनशील केमरा बनाकर इसे साक्षात् कर दिया है।

धर्म-सिद्धांतों को प्रयोग और व्यवहार में लाएं

कुछ लोग कहते हैं कि आचार्यजी ने शास्त्रों को अमान्य ठहरा दिया है। चूंकि हर व्यक्ति को सोचने और अपनी बात कहने का अधिकार है, अतः कहनेवालों को मैं रोकता नहीं। पर यदि कोई मुझसे पूछे तो मैं कहूंगा कि *आगम* मेरे प्राण हैं। मैं अहर्निश उनकी सेवा में लगा हूँ। बावजूद इसके, मैं इस बात से सहमत हूँ कि हम केवल शास्त्रों पर निर्भर न रहें। जैसा कि भगवान महावीर ने कहा है **हैहअप्पणा सच्चमेसेज्जाह्वव्यक्ति स्वयं सत्य खोजे**। हम इस बात पर अपना ध्यान केंद्रित करें कि शास्त्रों में जो बात बताई गई है, उसके संदर्भ में हमारी स्वयं की अनुभूति क्या बोलती है, हमारा चिंतन, व्यवहार और आचरण क्या कहता है। मैं मानता हूँ कि धर्म अमृत भी है और जहर भी है। यह उसके प्रयोक्ता पर निर्भर करता है। यदि उसके प्रयोक्ता का दृष्टिकोण सम्यक है तो उसे सदैव अमृत ही मिलेगा। इसके ठीक विपरीत यदि प्रयोक्ता का दृष्टिकोण मिथ्या है तो उसे हलाहल विष ही मिलेगा और वह सदा विष ही उगलेगा। यह मिथ्या दृष्टिकोण का ही तो परिणाम है कि जो धर्म सारे संसार को शांति, समन्वय, मैत्री और विश्व-बंधुत्व का पाठ पढ़ाता है, उसी के नाम पर विग्रह पैदा हुए, अनेक

युद्ध लड़े गए, खून की नदियां बहीं। अतः उपसंहार रूप में मैं पुनः वही बात कहना चाहता हूं कि हम शास्त्रों के सिद्धांतों की मात्र दुहाई न दें, अपितु उन्हें प्रयोगसिद्ध बनाएं, अपने व्यवहार में उतारें।

बेंगलुरु

७० : बलिदान-भावना का विकास आवश्यक

अणुव्रत अब अपने यौवन की दहलीज पर है। यौवन तक आते-आते व्यक्ति का न केवल बाहरी दुनिया से संपर्क बढ़ता है, अपितु उसके प्रति उसका दायित्व भी बढ़ जाता है और विभिन्न प्रश्नों के प्रति अपने ढंग से सोचने की उसकी शक्ति भी बढ़ जाती है। अणुव्रत ने यौवन तक पहुंचते-पहुंचते लाखों-करोड़ों व्यक्तियों से संपर्क किया है, उनकी समस्याएं समझने की कोशिश की है और यथासंभव उनका समाधान भी दिया है। यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं है कि अणुव्रत अपने दायित्व के प्रति अपने जन्म से ही निष्ठाशील रहा है। किंतु आज जबकि हिंसक शक्तियां एक दुर्भेद्य चक्रव्यूह की रचना में लगी हैं, अहिंसक शक्तियों का दायित्व और अधिक बढ़ जाता है। इस वर्तमान संदर्भ को ध्यान में रखते हुए मैंने अणुव्रती बंधुओं को साक्षात् प्रेरणा देने का निर्णय किया है। इस निर्णय का लक्ष्य है अणुव्रत तेजस्वी बने और अणुव्रत के माध्यम से आज की समस्याओं का अहिंसापरक समाधान प्रस्तुत किया जाए।

अहिंसक शक्तियों के समक्ष प्रश्नचिह्न

इस बार अणुव्रत का अधिवेशन एक जिज्ञासापूर्ण वातावरण में संपन्न हुआ। जिज्ञासापूर्ण कहने की अपेक्षा प्रश्नपूर्ण कहना शायद अधिक संगत होगा। ऐसा नहीं कि प्रश्न केवल अणुव्रत के समक्ष है, अपितु अहिंसा में आस्था रखनेवाले सभी आंदोलनों और संस्थानों के समक्ष है। एक ओर हम गांधी-शताब्दी-वर्ष मना रहे हैं, अहिंसा-प्राण भगवान महावीर की पचीसवीं निर्वाण-शताब्दी की समायोजना के लिए तैयारी कर रहे हैं और दूसरी ओर देश में सांप्रदायिक दंगे तीव्रता से अपना सिर उठा रहे हैं। राष्ट्रीय संस्थाहक कांग्रेस भी एक अभूतपूर्व संकट में से गुजर रही है। लोक-सेवा का संकल्प लेकर चलनेवाली संस्था सत्ता के लिए संघर्ष करे, इससे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति और क्या हो सकती है! यह संघर्ष भी अप्रत्यक्ष रूप से

हिंसा को ही उकसानेवाला है। इस स्थिति में अहिंसक शक्तियां क्या महापुरुषों की शताब्दियां या सहस्राब्दियां मनाकर ही अपने-आपमें संतुष्ट हो जाएंगी या इस अवसर पर वे अपने त्याग और बलिदान से अहिंसा का एक आदर्श भी उपस्थित करेंगी?

अपेक्षित है अहिंसक शक्तियों का सामूहिक प्रयत्न

आज की स्थितियों का अध्ययन करने से लगता है भगवान महावीर और महात्मा गांधी ने जिन गलत परंपराओं और मान्यताओं को चुनौती दी थी, वे आज फिर अपना सिर उठा रही हैं। जातिवाद, संप्रदायवाद, ऊंच-नीच का भेदभाव, अस्पृश्यता आदि तत्त्व आज समाज में फिर से पनप रहे हैं। इसलिए आज यह आवश्यक हो गया है कि अहिंसा के मंच से फिर वैसी ही सशक्त आवाज उठे। इस दृष्टि से अहिंसा में विश्वास रखनेवाले सभी आंदोलनों और संस्थानों को सम्मिलित प्रयत्न करना चाहिए।

.....तब बनेगी अहिंसा तेजस्वी

सामान्यतया अहिंसा का अर्थ दूसरों को न मारना, तकलीफ न पहुंचाना ही समझा जाता है, पर यह भी समझा जाना चाहिए कि अहिंसा के लिए स्वयं का मर-मिटना, बलिदान हो जाना हिंसा नहीं है। वह अहिंसा ही है। किंतु आज ऐसा लग रहा है कि अहिंसक लोगों ने जैसे औरों को नहीं मारने का संकल्प ले रखा है, वैसे ही स्वयं के न मर-मिटने का भी संकल्प ले रखा है। वे इतना अवश्य जानते हैं कि दूसरों की हिंसा न की जाए, किंतु हिंसा को रोकने के लिए स्वयं के बलिदान होने का उनमें साहस नहीं है। जब तक अहिंसक लोगों में यह साहस और ताकत नहीं आ आएगी, अहिंसा तेजस्वी बने, यह असंभव है। आज अहिंसानिष्ठ व्यक्तियों को यह समझने की आवश्यकता है कि जैसे दूसरों को मारना हिंसा है, वैसे ही हिंसा को रोकने के लिए यदि आत्म-बलिदान का अवसर प्राप्त हो तो उससे कतराना भी हिंसा है। जहां अपने प्राणों का मोह है, अपने संकल्प के प्रति मर-मिटने की तड़प नहीं है, यह मोह और कायरता हिंसा है।

अणुव्रत में भी बलिदान की भावना का विकास होना जरूरी है। हिंसा के बढ़ते हुए प्रवाह को देखकर हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं है। संसार का पिछला इतिहास देखने से पता चलता है कि मनुष्य में क्रमशः पशु-शक्ति का हास हुआ है और अहिंसा का विकास हुआ है। वह आदिम मानव की तरह परस्पर लड़ता-झगड़ता नहीं है। बात-बात पर शस्त्रास्त्रों का

प्रयोग नहीं करता है। उसने समाज में रहना सीख लिया है। वह बड़े-से-बड़े विवाद को शांति और समझौते से निपटाना चाहता है। उसमें सह-अस्तित्व की भावना का विकास हुआ है। वह अधिक सुसंस्कृत और सभ्य बना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐतिहासिक कालक्रम से अहिंसा का क्रमशः विकास ही हुआ है। बावजूद इसके, आज की घटनाओं पर अधिक चिंता इसलिए है कि वे आज के विवेकशील मानव के गौरव के अनुरूप नहीं हैं। समस्त मानव-जाति के इतिहास में आज का मानव अधिक प्रगतिशील, वैभवसंपन्न, बुद्धिमान और विवेकशील माना जाता है। अणु से ब्रह्मांड तक के अनेक रहस्य उसने अपने बुद्धिकौशल से अनावृत कर लिए हैं। वह मानव-जाति के नाम पर खून की नदियां बहाए, क्या यह पशुता ही नहीं है? क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता है मानव आज भी उन आदिम संस्कारों से ऊपर नहीं उठ पाया है? लेकिन इन प्रश्नों का उत्तर बहुत कठिन नहीं है, बशर्ते हममें त्याग और बलिदान की भावना जग जाए। हिंसा भी शक्तिशाली तभी होती है, जब उसके लिए बलिदान करनेवाले होते हैं। बिना बलिदान के हिंसा कुछ भी नहीं कर सकती। फिर अहिंसा बिना बलिदान के शक्तिशाली व प्रभावशाली कैसे हो सकती है?

भारत के पिछड़ेपन का कारण

मेरे सामने अनेक बार यह बात आती है कि अहिंसा की रटन भारत शताब्दियों से लगा रहा है। आज तक भी उसका क्या परिणाम आया? क्या वह आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर हो सका? क्या वह विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में प्रगति कर सका? और भी अनेक-अनेक प्रश्न मेरे सामने आते रहते हैं। यद्यपि मैं इन प्रश्नों के विस्तार में जाना नहीं चाहता, तथापि इतना अवश्य कहना चाहूंगा कि हम शताब्दियों से अहिंसा की रटन अवश्य लगा रहे हैं, किंतु जब भी परीक्षा की घड़ी आई, हमने हिंसा का ही सहारा लिया। इतिहास के सुदीर्घ काल में हमें ऐसी विरल ही घटनाएं मिलेंगी, जब हमने अवसर पर अहिंसा का सहारा लिया हो। इसका अर्थ यह हुआ, हम रटन अहिंसा की लगाते हैं, किंतु विश्वास हमारा आज भी हिंसा पर ही है। मैं समझता हूं कि हमारे पिछड़ेपन का मूल कारण यही है। हमने बातें अहिंसा की कीं, किंतु रास्ता हिंसा का लिया, विश्वास हिंसा पर किया। इसका परिणाम यह हुआ कि हमें न अहिंसा के क्षेत्र में सफलता मिली और न हिंसा के क्षेत्र में। आज इस पिछड़ेपन का दोष अहिंसा पर मढ़ा जा सकता है, पर यथार्थतः यह दोष हमारा अपना है, अहिंसा का नहीं।

अहिंसा का सशक्त वातावरण निर्मित हो

आज की परिस्थितियों को देखते हुए मेरी दृष्टि में सबसे पहला करणीय कार्य यह है कि देश में अहिंसा के समर्थन में एक सशक्त वातावरण बनाया जाए, क्योंकि जिस चीज का वातावरण सशक्त होता है, लोगों का झुकाव उधर ही हो जाता है। आज के शब्दों में हम इसे प्रबल जनमत तैयार करना कह सकते हैं। यदा-कदा घटनेवाली हिंसात्मक घटनाओं से अहिंसानिष्ठ लोगों को निराश होने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता यह है कि वे इस प्रकार की घटनाओं के समय लोगों के मनोबल को अहिंसा के प्रति शंकाकुल न होने दें। जिस प्रकार बुराई बुरा वातावरण उभारने का प्रयत्न करती है, उसी प्रकार भलाई को चाहिए कि वह उससे अधिक शक्तिशाली ढंग से अच्छा वातावरण तैयार करने के लिए प्रयत्नशील हो।

इस दृष्टि से अणुव्रती बंधुओं को पहल करनी है। वे स्वयं आगे आएँ, अहिंसानिष्ठ आंदोलनों और संस्थानों के साथ आगे आएँ और अहिंसा का वातावरण बनाएं। वर्तमान परिस्थितियों में अहिंसा का सशक्त वातावरण भी उसकी प्रतिष्ठा और उसके शक्ति-संचय में बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

७१ : लोकतंत्र की सफलता के मौलिक आधार

पिछले पंद्रह दिन राजनीति की दृष्टि से विशेष उथल-पुथल लिए थे। जैसे तो पिछले कई महीनों से कांग्रेस में आंतरिक संघर्ष चल रहा था, किंतु इस पक्ष में उस शीत युद्ध ने एक निर्णायक रूप ले लिया। जिस राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस को गत पिचासी वर्षों में कोई भी विरोधी शक्ति तोड़ नहीं पाई, उसको स्वयं उसी के अपने लोगों ने तोड़ दिया। एक लंबी तपस्या और बलिदान से सींची गई संस्था अपने ही लोगों द्वारा तोड़ दी जाए, इससे अधिक दुर्भाग्य उस संस्था का और क्या हो सकता है! किंतु कटु सचाई यह है कि कोई भी सशक्त व्यक्ति या सशक्त संस्था सदा अपने लोगों से ही टूटी है। बाहरी कोई भी शक्ति उसे तोड़ने में न तो कभी सफल हुई है और न कभी सफल हो ही सकती है।

यह सारा घटना-चक्र कांग्रेस के लिए तो दुर्भाग्यपूर्ण है ही, पूरे लोकतंत्र और सारे देश के लिए भी दुर्भाग्यपूर्ण है। इससे अजाने ही अजनतांत्रिक हिंसक शक्तियों को बढ़ने का अवसर मिलेगा। हिंसक शक्तियां अंदर घुसने के लिए सदा ताक में रहती हैं। कोई छोटा-सा छिद्र भी दिखने पर वे अपनी पूरी ताकत से उसमें घुसने की कोशिश करती हैं। कांग्रेस के टूटने पर ऐसा ही मनमाना अवसर उन शक्तियों को मिल गया है और लोकतंत्र को एक गहरा खतरा उत्पन्न हो गया है।

लोकतंत्र और धर्म

लोकतंत्र और धर्म में गहरा संबंध होता है। धर्म के फूलने-फलने के लिए लोकतंत्र एक स्वस्थ भूमिका है। धर्म के चार आधार हैं—हक्षांति, मुक्ति, आर्जव और मार्दव। जो व्यक्ति धर्म की आराधना करना चाहता है, उसे क्षमाशील होना चाहिए, निर्लोभ होना चाहिए, सरल और मृदु होना चाहिए। मुझे लगता है कि लोकतंत्र के भी ये चार आधार हैं। इन चारों के

अभाव में लोकतंत्र स्वतः लड़खड़ा जाता है और देश को हिंसा के हाथों सौंप देता है।

लोकतंत्र के संदर्भ में क्षांति

लोकतंत्र के संदर्भ में क्षांति का अर्थ होगा सहिष्णुता। यानी व्यक्तियों और स्थितियों को पचाने की क्षमता। लोकतंत्र में आस्था रखनेवाले व्यक्ति जब तक विरोधी विचारवाले व्यक्तियों और स्थितियों को पचाने में सक्षम नहीं होंगे, लोकतंत्र सफल नहीं हो सकेगा। लोकतंत्र का अर्थ ही होता है सहसभी प्रकार के विचारों को समान रूप से सम्मान देना। वह सम्मान तभी दिया जा सकेगा, जब व्यक्ति में भिन्न विचारों के प्रति भी सहिष्णुता होगी, उनको अपने में पचाने की क्षमता होगी। लोकतंत्रीय व्यवस्था में भी यदि कोई व्यक्ति अपने ही विचारों को औरों पर थोपना चाहे, तो फिर एकतंत्र, अधिनायकवाद और लोकतंत्र में कोई विशेष अंतर रहेगा, यह मेरी समझ के बाहर की बात है।

व्यक्ति-व्यक्ति में विचार-भेद होना स्वाभाविक है। यह विचार-भेद उसकी स्वतंत्र चेतना का द्योतक है, किंतु उस विचार-भेद में यदि दूसरे के विचारों के प्रति असहिष्णुता उत्पन्न हो जाती है, तब कठिनाई होती है। वहां अपने विचारों को ही सत्य मानने का आग्रह हो जाता है और उसके लिए गलत मानदंडों का स्थापन किया जाता है। बेशक, पुराने अवांछनीय मूल्य तोड़कर आगे आना एक साहसिक कार्य होता है, किंतु क्रांतिकारी मूल्यों की स्थापना करनेवालों के लिए इस विषय में सतर्क रहना आवश्यक होता है कि कहीं ऐसे मूल्यों की स्थापना न हो, जो स्वयं संस्था और देश के लिए भारी पड़ जाएं, अन्यथा उन मानदंडों को प्रगतिशील विचारों के नाम पर एक बार भले जनता का समर्थन मिल भी जाए, किंतु लंबी दौड़ में वे कभी सफल नहीं होते। उनका सुदूरगामी परिणाम स्वयं उनके जनकों के लिए अनिष्टकर ही होता है। मुझे आश्चर्य होता है, जब मैं देखता हूं, गांधी-दर्शन में अटूट आस्था रखनेवाले व्यक्तियों ने किस प्रकार अपना संतुलन खो दिया है! यह सचमुच दयनीय स्थिति है। इस स्थिति का जल्दी-से-जल्दी अंत हो, इसी में मुझे लोकतंत्र की भलाई दीखती है। किंतु यह संभव तभी है, जब वे परस्पर क्षमा दें और क्षमा लें। वे एक-दूसरे के प्रति सहिष्णु बनें; विरोधी व्यक्तियों, स्थितियों और विचारों में अपना संतुलन न खोएं; उन विरोधी परिस्थितियों

को पचाते हुए वे स्वस्थ निर्णय लें और प्रगतिशीलता के नाम पर गलत मूल्यों को प्रश्रय न दें।

लोकतंत्र का दूसरा आधार

लोकतंत्र का दूसरा आधार होता हैहैहमुक्ति। मुक्ति का अर्थ यहां बंधन-मुक्त अवस्था से नहीं है। साधना के परिप्रेक्ष्य में इसका अर्थ किया गया हैहैहनिर्लोभता। लोकतंत्र के संदर्भ में इसके लिए अनासक्ति शब्द बहुत उपयुक्त होगा। लोकतंत्रीय व्यवस्था में व्यक्ति को पद के प्रति सदा अनासक्त रहना चाहिए। यदि वह पद के चिपका रहना चाहेगा तो इससे न केवल वह लोगों में अप्रिय बनेगा, अपितु लोकतंत्र के साथ भी न्याय नहीं कर सकेगा। वह जितना सत्ता से निर्लिप्त होकर काम करेगा, लोकतंत्र की जड़ें उतनी ही मजबूत होंगी। लोकतंत्र में मुख्य नायक या नायिका जनता होती है। जो व्यक्ति जितना अधिक निस्पृह होता है, लोगों के मन में लोकतंत्र के प्रति आस्था उतनी ही गहरी हो जाती है। इस दृष्टि से पद के प्रति अनासक्ति हो, यह उसका दूसरा सूत्र है।

लोकतंत्र का तीसरा आधार

लोकतंत्र का तीसरा आधार हैहैहऋजुता। ऋजुता से अभिप्राय हैहैहमन, वचन और शरीर की सरलता। राजनीति के क्षेत्र में बहुत-से लोग सरलता को मूर्खता समझते हैं। उनका मानना है कि राजनीति में वही सफल हो सकता है, जो पूरे दांवपेच जानता हो। लेकिन मैं इस विचार से सहमत नहीं हूँ। हो सकता है कि अधिक दांवपेच जाननेवाला व्यक्ति एक बार सरल व्यक्ति को पराजित भी कर दे, किंतु उस दांवपेच-भरी राजनीति की उम्र अधिक नहीं होती। जिस व्यक्ति का व्यवहार सरल और स्पष्ट होता है, वही जनता का हृदय जीत सकता है। इस प्रकार सफल लोकतंत्र का ऋजुता से बहुत गहरा संबंध है।

लोकतंत्र का चौथा आधार

लोकतंत्र का चौथा आधार हैहैहमृदुता। हमारा व्यवहार मृदु हो। विरोधी विचारवाले व्यक्तियों के साथ भी मृदु व्यवहार हो। देखा यह गया है कि जिन व्यक्तियों ने अपने विचारों का समर्थन नहीं किया अथवा अपने दल के उम्मीदवार को समर्थन नहीं दिया, विजय के पश्चात उनके साथ बड़ा प्रतिशोधात्मक व्यवहार होता है। सत्ता के आतंक से उन्हें दबाने की कोशिश की जाती है। अनेक बार वे इसमें सफल हो जाते हैं तो

अनेक बार उनको मुंह की भी खानी पड़ती है। इसके विपरीत अपनी विजय अथवा पराजय के बाद भी औरों के साथ प्रेमपूर्ण, मैत्रीपूर्ण एवं मृदु व्यवहार हो तो वह जनता का दिल जीतने में असंदिग्धरूप में सफल होता है।

सांसदों और विधायकों की अर्हता का मानदंड क्यों नहीं

केंद्र और राज्यों की वर्तमान स्थितियां भी आलोचनीय हैं। केंद्र और राज्यों के सांसदों एवं विधायकों पर सारे राष्ट्र का एक महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व होता है। इन पदों की अपनी एक गरिमा होती है, किंतु आज जिस प्रकार इनके साथ खिलवाड़ किया जा रहा है, वह सर्वथा अवांछनीय है। इस स्थिति में मैं सोचता हूं, जो व्यक्ति देश की इन सर्वोच्च संस्थाओं की सदस्यता के लिए उम्मीदवार हो, उसके लिए एक निश्चित आचार-संहिता और एक निश्चित प्रशिक्षण-क्रम भी होना चाहिए। आप देखें, अध्यापक बनने के इच्छुक व्यक्ति को अध्यापन का प्रशिक्षण लेना होता है, वकील बननेवाले को वकालत का प्रशिक्षण लेना पड़ता है। इसी प्रकार डॉक्टर, सी.ए., इंजीनियर आदि सभी को अपने-अपने कार्य का प्रशिक्षण लेना होता है। ऐसी स्थिति में फिर सांसदों और विधायकों के लिए कोई प्रशिक्षण-व्यवस्था क्यों नहीं होनी चाहिए? क्या ये स्थान इतने साधारण हैं कि जिनके लिए कोई अर्हता की अपेक्षा नहीं होती और कोई भी व्यक्ति जिनके लिए योग्य हो सकता है? राजनीति में आज जो गांभीर्य और उत्तरदायित्व का अभाव नजर आ रहा है, उसके पीछे एक ही कारण लगता है कि इसमें चुनकर आनेवाले व्यक्ति अर्हता के आधार पर नहीं, अपितु दल के आधार पर आते हैं। फिर अर्हता का कोई मानदंड भी तो निर्धारित नहीं है। यह सचमुच बहुत खेद की बात है कि देश के सर्वोच्च प्रतिनिधियों के लिए न तो कोई आचार-संहिता है, न कोई अर्हता का मानदंड है और न उसके लिए प्रशिक्षण-क्रम ही। जब तक इस दिशा में कोई ठोस निर्णय नहीं लिया जाता, संसद और विधानसभाओं की गरिमा सुरक्षित रहना संभव नहीं लगता। फिर गरिमा की सुरक्षा का प्रश्न तो तभी उठ सकता है, जब उसका पूरी तरह मान हो।

जरूरी है सत्य और अहिंसा की प्रतिष्ठा

सत्य और अहिंसा दोनों भारतीय संस्कृति के मौलिक आधार रहे हैं। हम इस बात को समझें कि सत्य और अहिंसा के वातावरण में लोकतंत्र की

समृद्धि सहज संभव होती है और लोकतंत्रीय व्यवस्था में सत्य और अहिंसा को भी खुलकर फूलने-फलने का अवकाश मिलता है। इस दृष्टि से देश के सभी राजनीतिक दलों को अपने-अपने स्वार्थों से ऊपर उठकर राष्ट्र-हित के लिए संकल्पबद्ध होना चाहिए।

अणुव्रत ग्राम, बेंगलुरु

२२ नवंबर १९६६

७२ : नए मूल्यों की सर्जना का आधार

जरूरी है नए मूल्यों का निर्माण

देश में सर्वत्र एक नए समाज के निर्माण के लिए उत्साह नजर आ रहा है। यह इस बात का प्रमाण है कि देश का आम आदमी अब प्रबुद्ध होता जा रहा है। यह इस बात का भी प्रमाण है कि प्राचीन समाज-व्यवस्था में वह शक्ति नहीं रह गई है, जो आज के मनुष्य का दुःख-दर्द मिटा सके, उसके आंसू पोंछ सके। इस दृष्टि से नए मूल्यों का निर्माण होना आज अनिवार्य हो गया है। इस समय भी यदि कोई नए मूल्यों को नकारना चाहता है तो इसका अर्थ है कि वह अपने-आपको नकारना चाहता है। प्रगति और निर्माण के मूल्यों का सदा स्वागत होना चाहिए। उनसे आंखें मूंदना वास्तविक जीवन से आंखें मूंदना होता है।

सजगता की अपेक्षा

निर्माण सदा अभिलषणीय होता है, किंतु वह खतरों से भी भरा होता है। एक कच्ची ईंट भी उस सारे निर्माण को ध्वस्त कर सकती है। अथाह पानी को रोके हुए विशाल बांध हजारों-हजारों एकड़ वंजर धरती को सरसब्ज बना देता है। लेकिन उस विशाल बांध की नींव में यदि एक पत्थर भी कमजोर होता है तो वह अकल्पनीय विनाश का कारण भी बन जाता है। इसलिए किसी भी नए निर्माण से पहले यह आवश्यक होता है कि उसमें काम आनेवाला एक-एक पत्थर परखा जाए। उसका निर्माण करनेवाले एक-एक हाथ की ईमानदारी पर विशेष ध्यान दिया जाए। पत्थर और हाथ दोनों में से एक कमजोरी भी निर्माण को विफल कर देनेवाली होती है। हमें आज इस ओर विशेष ध्यान देना है।

नव-निर्माण : आधार और स्वरूप

मुझे इस बात में कोई संदेह नहीं है कि नव-निर्माण के लिए आज समय पूरी तरह पक गया है। प्रश्न इतना ही है कि 'उस निर्माण का आधार और

स्वरूप क्या हो?’ यदि हमने निर्माण के प्रारंभ में उसके आधार और स्वरूप पर ध्यान नहीं दिया तो हो सकता है कि वह निर्माण हमारे लिए सुखकर न होकर दुःखदायी भी बन जाए। यह ठीक है कि जब प्राचीन परंपराएं और मूल्य अनावश्यक और व्यर्थ हो जाते हैं, तब नए निर्माण की आवाज उठती है। किंतु नए निर्माण में यदि अवांछनीय तत्त्व घुस जाएं, जिसकी कि अधिक संभावना रहती है तो वह समाज के लिए अभिशाप हो जाता है। यों तो *गीता* की भाषा में **सर्वारम्भा हि दोषेन, धूमेनाग्निरिवावृताः** हसमस्त प्रवृत्तियां दोष से वैसे ही आवृत रहती हैं, जैसे कि धुएं से अग्नि। किंतु वह प्रवृत्ति का स्वभावज दोष है। मेरे कहने का यहां अभिप्राय उन गलत तत्त्वों या मान्यताओं से है, जो समाज को सदा नीचे की ओर खींचती हैं।

दो विचारधाराएं

नव-निर्माण को लक्ष्य में रखते हुए देश में दो प्रकार की विचारधाराएं काम कर रही हैं। एक का मानना है कि प्राचीन मूल्यों का संपूर्णतः विनाश कर ही हम नए मूल्यों की सर्जना कर सकेंगे। केवल परिवर्तन से नया निर्माण आज होनेवाला नहीं है। उसके सामने अभी विध्वंस का लक्ष्य ही है। इस विचारधारा में विश्वास करनेवाले अभी देश को तोड़ने में ही लगे हैं। निर्माण का न उनके समक्ष कोई खाका है और न कोई उनका प्रयत्न भी उसके लिए है।

दूसरी विचारधारा का कहना है कि नवीनता के मोह में हम अपने प्राचीन सांस्कृतिक मूल्य भूल गए हैं। यही कारण है कि हम अनेक वैज्ञानिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों के बाद भी खोए-खोए-से नजर आ रहे हैं। अनेक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति के बाद भी हम शांति का अनुभव नहीं कर रहे हैं। इसलिए हमारे प्राचीन मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा होनी चाहिए।

जरूरी है मूल्यों की स्वस्थता

मुझे लगता है दोनों ओर ही एक प्रकार का मोह काम कर रहा है। एक ओर नवीनता के प्रति अधिक मोह है तो दूसरी ओर प्राचीनता के प्रति। एक ओर प्राचीनता के प्रति घृणा है तो दूसरी ओर नवीनता के प्रति। मोह और घृणा के आधार पर कोई भी नया निर्माण स्वस्थ व संपूर्ण निर्माण नहीं होगा। विकलांग निर्माण समाज को भी अपाहिज बना देगा। इसीलिए मैं किसी भी निर्माण के पहले उसके आधारभूत मूल्यों की स्वस्थता पर जोर देता हूं।

प्रेम से मिटेगी विषमता

कल्पना करें, आप समाज में चरम सीमा तक व्याप्त विषमता मिटाना चाहते हैं। किंतु उसका आधार यदि घृणा और वैमनस्य है तो उससे आप विषमता मिटाने में सफल नहीं हो सकते। विषमता मिटाने का आधार समता है, मैत्री है। विषमता मिटाने का आधार प्यार है, सामंजस्य है। प्रेम सदा प्रेम को जन्म देता है। घृणा सदा घृणा को जन्म देती है। आज के असंतोष का मुख्य कारण अभाव नहीं, घृणा, वैमनस्य और पारस्परिक अविश्वास है।

भारत के लोगों के लिए असंतोष का कारण अभाव कहा जाता है। वह भी एक कारण हो सकता है। किंतु मैं इसे मुख्य कारण नहीं मानता। यदि अभाव ही असंतोष का मुख्य कारण होता तो वह असंतोष अमेरिका अथवा अन्य संपन्न देशों में क्यों होता? वहां पर भी तो असंतोष है। यह इस बात का प्रमाण है कि उसकी जड़ में कोई अन्य कारण काम कर रहा है। वह कारण घृणा और वैमनस्य ही है। कहीं वह घृणा काले और गोरे के नाम से फैलाई जा रही है तो कहीं वह हिंदू और मुसलमान के नाम से। कहीं वह धर्म और संप्रदाय के नाम से फैलाई जा रही है तो कहीं वह गरीब और अमीर तथा साम्यवाद के नाम से। यह सही है कि ये सारी विषमताएं असंतोष का कारण बनती हैं, किंतु पारस्परिक घृणा से इनका समाधान भी नहीं आनेवाला है। इनका समाधान एकमात्र प्रेम और सौहार्द से ही हो सकता है।

नहीं की जा सकती मानवीय मूल्यों की अवहेलना

मैं समझता हूँ कि हमारा लक्ष्य भले समाजवाद हो या साम्यवाद, मानवीय मूल्यों की अवहेलना किसी भी स्थिति में नहीं की जा सकती। भारत में आज जो राजनीतिक अस्त-व्यस्तता है, उसका मुख्य कारण यह नहीं है कि वह किसी भी लक्ष्य-विशेष के लिए नए मूल्य गढ़ रहा है। नए मूल्यों की स्थापना के समय होनेवाला संघर्ष कभी अपना स्तर नहीं खोता। वह कभी कुछ व्यक्तियों की लड़ाई बनकर नहीं रह जाता। वह कुछ बुनियादी बातें लेकर चलता है और उसके लिए मर मिटता है। आज यहां की तस्वीर कुछ दूसरी ही है। सब एक-दूसरे को पिछड़ा हुआ और स्वयं को प्रगतिशील सिद्ध करने के लिए आमदा हैं। इस दौड़ में न उन्हें अपने कर्तव्य का पूरा भान है, न पद की गरिमा का और न ही राष्ट्र की गौरवमयी परंपरा का। सीमांत गांधी अब्दुल गफ्फार खां ने इसी कटु सत्य को कितने दर्द-भरे शब्दों

में कहा थाह'में जब से यहां आया हूं, मुझे एक भी ईमानदार आदमी नहीं मिला।' क्या यह उन लोगों के प्रति एक करारा व्यंग्य नहीं है, जो राष्ट्र का दायित्व अपने पर ओढ़े हैं?

अपेक्षित है आध्यात्मिक प्रशिक्षण

इन सब स्थितियों के बाद हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुंच सकते हैं कि साम्यवाद आए या समाजवाद, अध्यात्म के मूल्यों के प्रशिक्षण के बाद ये सभी वाद स्वयं कृत-कार्य हो जानेवाले हैं। उन मूल्यों के अभाव में ये वाद इसलिए सफल नहीं हो सकते, क्योंकि वे प्राणशून्य होंगे। वे तानाशाही को जन्म देंगे। कोई भी व्यवस्था सफल तभी हो सकती है, जब वह हृदयगत होती है, आत्मगत होती है। डंडे के बल पर शरीर को पकड़ा जा सकता है, आत्मा को नहीं। आज हृदयगत की जरूरत है आत्मगत की जरूरत है, जो एकमात्र अध्यात्म के मूल्यों से ही संभव है।

हिंदूपुर (आंध्र प्रदेश)

२० दिसंबर १९६६

७३ : मुझसे बुरा न कोय

हम जहां जाते हैं, वहीं पर हमारा प्रमुख केंद्र होता है। आज हम आपके गांव में पहुंचे हैं, अस्तु, आज का हमारा प्रमुख केंद्र आपका यह गांव ही है। हम अकिंचन साधु हैं। न कोई मठ, न कोई मंदिर, न कोई देवस्थान। चार अंगुल जमीन भी स्थायी रूप से हमारी नहीं है। जहां जाते हैं, ठहरने-भर के लिए स्थान मिल जाता है। आज यहां तो कल वहां। हमारा जीवन ही प्रमुख धर्मस्थान है। यदि जीवन में धर्म नहीं तो वह निरर्थक है। आज धार्मिकों का जीवन भी धर्मशून्य हो गया है। इस संदर्भ में आपसे एक प्रश्न करना चाहता हूँ 'सत्य, अहिंसा, करुणा आदि तत्त्व कहां होने चाहिए? मनुष्य के जीवन में या धर्मस्थान में?' आज की सबसे बड़ी समस्या यही है कि मनुष्य धर्मस्थान में जाकर तो देवता बन जाता है, परंतु बाहर आते ही राक्षस का कार्य करने लग जाता है।

आज मनुष्य अपने आचरण को नहीं देखता। वह दूसरों की ही बुराइयां खोजता है। कबीर ने कितना यथार्थ कहा है

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।

जो दिल खोजा आपना, मुझसे बुरा न कोय॥

दूरबीन से मनुष्य बहुत दूर तक देख सकता है, परंतु स्वयं को नहीं देख सकता; और जब तक वह स्वयं को नहीं देखता, तब तक बुराइयां दूर नहीं होतीं; और बुराइयों से मुक्त हुए बिना मनुष्य को शांति नहीं मिल सकती।

७४ : जरूरी है आत्म-निरीक्षण

आत्म-निरीक्षण दर्पण है

भारतवर्ष प्राचीनकाल में विश्व का धर्मगुरु कहलाता था। सारे संसार को इसने शांति और अध्यात्म का संदेश दिया। पर यह कहते हुए बहुत खेद होता है कि इसी भारतवर्ष को शांति और अध्यात्म का संदेश देने के लिए आज बाहर से लोग आते हैं। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि भारतवासी अपना आत्म-निरीक्षण करना भूल गए। बहुत आश्चर्य है कि भारतवर्ष के लोग दुनिया-भर के लोगों के दोष देखते हैं, पर स्वयं को नहीं देखते! मेरा विश्वास है कि यदि भारत के नागरिक अपने-आपको देखने लगे तो देश की अधिकतर समस्याओं का समाधान हो जाए। दूरबीन से बहुत दूर-दूर की चीजें देखी जा सकती हैं, किंतु स्वयं का चेहरा नहीं देखा जा सकता। उसके लिए तो हाथ में दर्पण लेना होगा। अपने गुण-दोष, अच्छाइयां-बुराइयां देखने के लिए आत्म-निरीक्षण दर्पण है। भारतवासी आत्म-निरीक्षण का यह दर्पण अपने हाथ में लें। इससे वे अपना खोया गौरव पुनः प्राप्त कर सकेंगे।

अच्छा मनुष्य बनने का मार्ग है अणुव्रत

आज राष्ट्र में यों तो अनेक वस्तुओं की आवश्यकता है, किंतु सर्वाधिक आवश्यकता अच्छे मनुष्यों की है। मेरा मानना है कि जब तक देश में अच्छे मनुष्य नहीं होंगे, तब तक सभी तरह के निर्माण-कार्य अधूरे रहेंगे, देश की उन्नति नहीं हो सकेगी। भाषा, प्रांत, संप्रदाय, जाति आदि विभेदों के कारण परस्पर लड़ना-झगड़ना अच्छे मनुष्यों का कार्य कदापि नहीं है। इससे व्यक्ति का अपना अहित तो होता-ही-होता है, राष्ट्र का भी बहुत बड़ा अहित होता है। अणुव्रत भाषा, प्रांत, संप्रदाय, जाति, वर्ण आदि के विभिन्न भेदों से सर्वथा दूर मनुष्य को सच्चा और अच्छा मनुष्य बनाने का मार्ग है। अणुव्रत के छोटे-छोटे संकल्प स्वीकार कर आप स्वयं की तथा राष्ट्र की बहुत अच्छी सेवा कर सकते हैं।

आप लोग कर्नाटक प्रांत का राज्योत्सव मना रहे हैं। हालांकि मैं आपकी खुशी में बाधक बनना नहीं चाहता, तथापि इतना-सा अवश्य कहना चाहता हूँ कि इसकी पूरी सार्थकता तभी है, जब आप मानवीय संस्कृति, भारतीय संस्कृति और आध्यात्मिक संस्कृति के संवाहक बनें और मानवता की सेवा के लिए संकल्पित हों। अणुव्रत इस दिशा में आपके पथ का आलोक है।

बेंगलुरु

६ नवंबर १९६६

७५ : धन और संयम

संतोष धर्म का जीवन है। इच्छाएं आकाश के समान अनंत हैं। उन्हें सीमित करो। संग्रह भावना मत रखो। अधिक संग्रह से जीवन अधिक दुखी बनेगा। परिग्रह के साथ माया, कपट, अभिमान, दंड और दुर्भावनाएं बढ़ती हैं। सारे लोक में परिग्रह के समान दूसरी निविड़ जंजीर कोई नहीं। अर्थ-लोलुपता आज चरम सीमा पर पहुंची हुई है। दुनिया के बड़े-बड़े मस्तिष्क अर्थोपार्जन की व्यायाम-विधि में संलग्न हैं। एक, दूसरे को हड़पना चाहता है, हानिगलना चाहता है। भूमि उतनी कृपण नहीं बनी है, जितनी मानव की जठराग्नि तेज बनी है। वह अनंत धन राशि को पचा सकती है।

सामग्री अल्प है। भोक्ता अधिक हैं। संचय की भावना उनसे भी अधिक है। इसीलिए तो वर्ग-युद्ध छिड़ रहा है। नए-नए वाद जन्म ले रहे हैं। स्पर्धा और संघर्ष की चिनगारियां उछल रही हैं।

आश्चर्य है, दुनिया इस ओर ध्यान नहीं देती कि धन केवल जीवन-निर्वाह का साधन है, साध्य नहीं। साध्य तो कुछ और ही है। सब प्राणी सुख चाहते हैं। वह उनका साध्य है। सुख आत्मा का धर्म है, शरीर का नहीं। वह संतोष से पैदा होता है, धन से नहीं।

‘धनी ही महान है’ह अर्थात् धन ही बड़प्पन का मानदंड है, ह्यह दोष सब जगह देखा जा रहा है। ‘संयमी पुरुष महान है’ह इस बात को जब तक लोग नहीं समझ लेंगे, तब तक लालसा को कम करने का सिद्धांत लोकदृष्टि में उपादेय नहीं हो सकेगा। और जब तक लालसा कम नहीं होगी, तब तक आवश्यकताएं बढ़ती रहेंगी। आवश्यकता की वृद्धि में सुख की कमी रहेगी, क्योंकि आवश्यकतावाले व्यक्ति आत्मनिर्भर नहीं हो सकते और आत्मनिर्भर हुए बिना दूसरे की अपेक्षा रखना छूट नहीं सकता। जब तक दूसरे की अपेक्षा रहती है, तब तक शोषण और दमन हुए बिना नहीं रह सकता। और इन

दोनों में सबके 'वाद' यानी सिद्धांत अपना अस्तित्व खो बैठते हैंहमिट जाते हैं।

इसलिए अपने और पराए कल्याण की कामना करनेवाले व्यक्तियों को सबसे पहले संयम का अभ्यास करना चाहिए।

पर संयम-धर्म ऐहिक फल-प्राप्ति की भावना से न पाला जाए अर्थात उसके द्वारा पुण्य, स्वर्ग एवं भौतिक सुख पाने की अभिलाषा न रखी जाए।

७६ : स्वयं ही भगवान बनना होगा

आज का मनुष्य वास्तविक मनुष्य नहीं रह गया है। आकार में तो वह मनुष्य दिखलाई देता है, परंतु प्रकार में मनुष्य नहीं रह गया है। सामाजिक प्राणी होकर भी वह यह नहीं जानता कि समाज में कैसे जीना चाहिए। मनुष्य होकर भी वह मरे हुए जानवरों का मांस खाता है। यह राक्षसी वृत्ति है। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य नाटककार बर्नार्ड शा एक पार्टी में शामिल हुए। चूंकि पार्टी में सम्मिलित सभी लोग मांसाहारी थे, इसलिए सबके सामने प्लेटों में मांस आया। सब खाने लगे। किंतु बर्नार्ड शा चुपचाप बैठे रहे। सब आश्चर्य में पड़ गए। मेजबान ने कारण पूछा तो बर्नार्ड शा ने कहाहूँ 'मेरा पेट कोई कब्रिस्तान नहीं है, जहां पर मुर्दे को स्थान मिले।' उसे सारी स्थिति समझ में आ गई। तत्काल उन्हें निरामिष भोजन दिया गया।

आज मनुष्य के लिए जीना ही नहीं, मरना भी मुश्किल हो गया है, क्योंकि आज यदि कोई मरने के लिए विष की तलाश करे तो वह भी शुद्ध मिलना कठिन है। लड़के-लड़कियों की शादी में लाखों का मोल-तोल होता है, यह देश के लिए कलंक है। राज्य-कर्मचारियों में रिश्वत का बोलबाला है। व्यापार में चोर-बाजारी की जाती है। इतना ही नहीं, स्कूल, कालिज तथा विश्वविद्यालय भी भ्रष्टाचार के अड्डे बनते जा रहे हैं। विद्यार्थियों को गुमराह किया जा रहा है। सब जगह राजनीति ने अपना प्रभुत्व जमा लिया है। देश के कर्णधार स्वयं दलबंदी के शिकार हैं। वे अपनी-अपनी पार्टी, अपने-अपने पक्ष को पोषण देने में लगे रहते हैं। देश की ओर किसी का ध्यान नहीं। लोग सोचते होंगे कि हमारी बुराइयां दूर करने के लिए कोई भगवान आएगा, परंतु मैं कहता हूं कि मनुष्य को स्वयं ही अपनी बुराइयां दूर करनी होंगी, स्वयं ही भगवान बनना होगा, अन्यथा अनेक कठिनाइयों के जन्म लेने की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता।

७७ : हम सतत पुरुषार्थ करें

जैन-दर्शन की मान्यता है कि आत्मा का विशुद्ध स्वरूप ही परमात्मा है। आज तक अनंत-अनंत आत्माएं अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर परमात्मा बन चुकी हैं। इस संदर्भ में एक बात बहुत ध्यान से समझने की है। आत्मा से परमात्मा बनना किसी दूसरे के हाथ में नहीं, अपितु अपने ही हाथ में है। और तो क्या, ईश्वर के हाथ में भी नहीं है। यदि कोई इस धारणा में पुरुषार्थहीन बनकर बैठा रहा कि ईश्वर की कृपा से मुझे परमात्म-पद की प्राप्ति हो जाएगी, तो वह भयंकर भूल करेगा।

जैन-दर्शन पुरुषार्थवादी दर्शन है। एक अपेक्षा से उसमें पुरुषार्थ को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। अकर्मण्यता उसे स्वीकार्य नहीं है। वह कहता है कि व्यक्ति के समक्ष भले कौसी भी विषम परिस्थिति क्यों न हो, वह अकर्मण्य न बने, हाथ पर हाथ धरे न बैठा रहे, अपने पुरुषार्थ के द्वारा उसे बदलने का हर संभव प्रयास करे। यह ठीक है कि हम किसी एकाक्षी (काना) को द्विचक्षु नहीं बना सकते, पर बौद्धिक पुरुषार्थ से इतना तो कर ही सकते हैं कि वह काना न दिखे।

एक एकाक्षी राजा था। एक बार उसके मन में अपना एक सुंदर चित्र बनवाने का विचार आया। उसने राज्य-भर के अच्छे-अच्छे चित्रकारों को बुलाया और अपना एक चित्र बनाने का आदेश देते हुए यह उद्घोषणा की कि जिस चित्रकार का चित्र सबसे सुंदर होगा, उसे पुरस्कृत किया जाएगा। देखते-ही-देखते राजा के सैकड़ों चित्र बनकर तैयार हो गए। मंत्री ने उनमें से तीन चित्र छांटे और उन्हें राजा के समक्ष प्रस्तुत किया। राजा ने पहला चित्र देखा। चित्र सुंदर था। पर उसमें राजा को एकाक्षी दिखाया गया था। राजा ने उसे रद्द करते हुए कहा कि चित्र बहुत कलात्मक है, पर इसमें नग्न सत्य प्रकट किया गया है। इससे मैं युग-युग तक एकाक्षी दिखूंगा। अतः यह स्वीकार्य नहीं हो सकता।' राजा ने दूसरा चित्र देखा। वह चित्र भी सुंदर था। पर उसमें

राजा के दो आंखें दिखाई गई थीं। अतः राजा ने उसे भी यह कहते हुए रद्द कर दिया कि इसमें यथार्थ पर आवरण डाला गया है। अब अंतिम चित्र राजा के समक्ष था। उसमें राजा को शिकार करने की मुद्रा में दिखाया गया था। राजा के हाथ में धनुष था और सामने एक हिरण। राजा एक आंख भींचकर शर-संधान कर रहा था। राजा को यह चित्र पसंद आया। उसने उसे स्वीकृत करते हुए कहाह 'कला की दृष्टि से तो यह चित्र सुंदर है ही, साथ ही इसमें न तो नमन सत्य ही प्रकट किया गया है और न यथार्थ पर आवरण ही डाला गया है। बुद्धि-कौशल से इसमें मेरा एकाक्षीपन अप्रकट रख दिया गया है।' इसके साथ ही राजा ने भरी परिषद में उस चित्र को बनानेवाले चित्रकार को पुरस्कृत किया।

इस घटना या कथा का मर्म हम पकड़ें। जिस प्रकार चित्रकार ने वास्तविकता पर आवरण डाले बिना अपने कौशल एवं बौद्धिक पुरुषार्थ से राजा का एकाक्षीपन अप्रकट रख दिया, उसी प्रकार हम भी अपनी बुद्धि और कौशल का श्रेष्ठतम उपयोग करते हुए युगीन समस्याएं समाहित करने का प्रयास करें, बिना वास्तविकता पर परदा डाले। ऐसी स्थिति में ही हम आनेवाली पीढ़ी का सही मार्ग-दर्शन कर सकेंगे।

बेंगलुरु

७८ : स्वयं पर अनुशासन

आप लोगों ने राजनीतिक लोगों के बहुत भाषण सुने होंगे, सामाजिक कार्यकर्ताओं के भाषण भी जब-तब आप लोगों को सुनने को मिलते होंगे। परंतु मैं न तो राजनीति से संबंध रखता हूं और न सामाजिक नेता हूं। आज की यह सभा धार्मिक है, आध्यात्मिक है। मैं भी आप सब लोगों के समक्ष एक धार्मिक और आध्यात्मिक व्यक्ति के रूप में उपस्थित हूं। यद्यपि राजनीति हृदय का स्पर्श नहीं करती, तथापि आज का युग राजनीतिमय बन गया है, यह एक आश्चर्य है। यही कारण है कि आज का मनुष्य दुखी है। मनुष्य दूसरे पर शासन करना जानता है, परंतु स्वयं पर उसका अनुशासन नहीं है। आज धर्म के नाम पर, भगवान के नाम पर तरह-तरह का धोखा दिया जाता है। सच्चे धार्मिक की सही पहचान यह है कि उसका स्वयं पर अनुशासन होता है। वह क्रोध नहीं करता। चंदन को जितना घिसा जाता है, उतनी ही अधिक सुगंध वह देता है। आम के वृक्ष पर पत्थर मारने से वह मीठे फल देता है। ठीक इसी प्रकार संतों का जीवन होना चाहिए। कुछ लोग कहते हैं कि हमारे गुरुजी धार्मिक हैं, इसलिए हम भी धार्मिक हैं। मैं समझता हूं कि यह सर्वथा गलत धारणा है। आत्मानुशासन करके ही कोई व्यक्ति धार्मिक बन सकता है। जब महावीर ने सबको महावीर नहीं बनाया, बुद्ध ने सबको बुद्ध नहीं बनाया और गांधी ने सबको गांधी नहीं बनाया, तब मैं आपको महावीर, बुद्ध या गांधी कैसे बना सकता हूं? अलबत्ता, अच्छा मनुष्य बनाने के लिए हमने अवश्य प्रयास किया है। मेरा चिंतन है कि भले लोग बुद्ध, महावीर और गांधी न बन सकें, परंतु उनका अच्छे मनुष्य का रूप तो सामने आना ही चाहिए। इस कार्य में हम सबका सहयोग चाहते हैं। जातीयता, सांप्रदायिकता, अस्पृश्यता आदि में मेरा विश्वास नहीं है। आज मनुष्य, मनुष्य के प्रति जो भेद-भाव कर रहा है, वह निःसंदेह सबके लिए घातक है। इस बुराई से सबको बचना चाहिए। मानवता के विकास और मानव-जाति के व्यापक हित की दृष्टि से यह अत्यंत आवश्यक है।

७६ : अशांति क्यों

वर्तमान युग वैज्ञानिक युग कहलाता है। इस युग में मानव ने आशातीत विकास किया है। पर विकास मात्र भौतिक क्षेत्र का है। मानसिक स्तर पर तो वह पूर्वापेक्षया ह्रास की ओर ही गया है। यही कारण है कि वह अत्यंत अशांति का अनुभव कर रहा है। भौतिक सुख-सुविधाओं के ढेर-से साधन होने के बावजूद उसके मन में शांति नहीं है। यह स्थिति किन्हीं दो-चार व्यक्तियों की नहीं, अपितु व्यापक स्तर पर है। यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि सारा राष्ट्र अशांति के वातावरण में सांस ले रहा है।

सबसे बड़ी समस्या

यों तो राष्ट्र के समक्ष अनेक समस्याएं हैं, पर जो सबसे प्रमुख समस्या है, वह मानसिक अशांति की ही है। कहना चाहिए कि यह मूलभूत समस्या है। मूलभूत इस दृष्टि से कि जब तक यह समस्या समुचित ढंग से समाहित नहीं हो जाती, तब तक दूसरी-दूसरी समस्याओं का समाधान संभव नहीं। मैं देख रहा हूं कि स्थान-स्थान पर अशांति को मिटाकर शांति की प्राप्ति की दृष्टि से विभिन्न स्तर पर प्रयत्न हो रहे हैं। पर इस उद्देश्य में सफलता नहीं प्राप्त हो रही है। मिले भी तो कैसे! समस्या जब स्वयं मनुष्य द्वारा पैदा की गई है, तब दूसरा कोई भी व्यक्ति इसे समाहित कैसे कर सकता है! राजस्थानी में कहावत है *हैहहाथ कमाया कामड़ा, किणने दीजे दोष।*

अशांति का कारण

प्रश्न पैदा होता है *हैह'मनुष्य अशांत क्यों है, अशांति का कारण क्या है?'* कारण कोई अस्पष्ट नहीं है, बहुत स्पष्ट है। मनुष्य धर्म से दूर होता जा रहा है। उसके जीवन में विभिन्न प्रकार की बुराइयों के रूप में अधर्म घर करता जा रहा है। हम इस यथार्थ को समझें कि धर्म से दूर होकर कोई भी व्यक्ति कभी शांति की अनुभूति नहीं कर सकता। आप कह सकते हैं कि देश में धर्मगुरुओं और धर्मस्थानों की कोई कमी नहीं है। पूजा-उपासना और

नाना प्रकार के क्रियाकांड भी खूब चलते हैं। फिर मनुष्य धर्म से दूर कैसे? आप इस बात को गहराई से समझें कि पूजा-उपासना और क्रियाकांडों से धर्म का कोई सीधा संबंध नहीं है। धर्मस्थानों और धर्मग्रंथों से भी उसका कोई सीधा संबंध नहीं है। फिर उसका सीधा संबंध किससे है? उसका सीधा संबंध व्यक्ति के जीवन से है। आज लोगों ने धर्म की ऊपरी बातें तो पकड़ लीं, पर उसका (धर्म का) जीवन में प्रयोग करने की बात की उपेक्षा कर दी। उसी के परिणामस्वरूप ऐसी स्थिति बनी। अणुव्रत के बारे में अभी आपने सुना। यह धर्म को व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन में प्रतिष्ठित कर इस स्थिति में परिवर्तन लाना चाहता है।

सच्चा स्वागत

चिकमंगलूर आगमन के इस अवसर पर आपने अभिनंदन-पत्र, भाषणों, गीतिकाओं एवं जयनादों के द्वारा मेरा स्वागत किया। हालांकि इनके माध्यम से आपकी श्रद्धा और भक्ति अभिव्यक्त हुई है, तथापि मैं इन सब चीजों को वास्तविक स्वागत-सामग्री नहीं मानता। ये चीजें न तो मुझे आकर्षित करती हैं और न मैं इन सबसे प्रसन्न ही होता हूँ। आप लोग स्वयं अणुव्रत के संकल्प स्वीकार करें और अणुव्रत के कार्यक्रम के प्रचार-प्रसार में अपना सक्रिय योगदान दें। इसे मैं अपना स्वागत मान लूंगा और ऐसा स्वागत-अभिनंदन स्वीकार करते हुए मुझे अत्यंत प्रसन्नता होगी।

चिकमंगलूर

१ जून १९६६

परिशिष्ट

संकेताक्षर

प्र. प्रकरण

१. विषयानुक्रम	२०९
२. नामानुक्रम	२११
३. पद्यानुक्रम	२१५
४. कथाओं/घटनाओं/दृष्टान्तों की सांकेतिका	२१७
५. पारिभाषिक कोश	२१८
६. प्रेरक वचन	२२३

विषयानुक्रम

अ	ह्रऔर धर्मारोधन ४५प्र.
अणुव्रत, अणुव्रत-आंदोलन ९५प्र.,	ह्रऔर मुक्ति ४५प्र.
९७प्र., १००, १०३प्र., १०५प्र.,	गौरव (गर्व) २३, २४
१११प्र., ११४, ११५प्र., १३२प्र.,	ज
१५५, १८३प्र.	जनतंत्र, लोकतंत्र १०, १५५, १८७प्र.
अनशन ६८प्र.	जैन-दर्शन २०२
अनेकांतवाद ६४प्र.	जैन-धर्म ३८प्र., ४५, ४६, ६९, ७०,
अपरिग्रह ८९	७८
अहिंसा ४प्र., ८८, ८९, १८३प्र.	जैन-संस्कृति ३८प्र., ४३प्र.
आ	ट
आत्म-निरीक्षण १७१, १९६, १९७	ट्रस्टीशिप १२८
आत्म विजय ३१प्र., ३४प्र.	त
हकी प्रक्रिया ३४प्र.	तप, तपस्या ६८प्र.
आत्मस्वरूप १७९	तीर्थस्नान ३९, ४०
आत्मा ७९प्र., १७९	द
इ	दान ४०प्र.
इच्छा-आकांक्षा ५१प्र.	देहे दुक्खं महाफलं ७०, ७१
क	ध
कषाय (क्रोध, मान, माया और	धर्म १प्र., ६प्र., ९, १०, १२प्र., १६,
लोभ) ५५प्र.	९५प्र., १५५प्र., १८७
काम-भोग ५५प्र.	ह्रऔर जनतंत्र १०प्र., १८७
ग	ह्रऔर बाह्याचार १प्र.
गुरु ९१प्र.	ह्रऔर राष्ट्रियता १२प्र.
गृहस्थाश्रम ४५प्र.	ह्रऔर शिक्षा ६प्र.

धार्मिक ३,४,९

न

नव-निर्माण १९२

नैतिकता-अनैतिकता १०५प्र.

प

पत्र, पत्रकार १५४प्र., १५७, १५९प्र.

परिग्रह, धन ८९, १९९

पुरुषार्थ ३८, ३९, १७३, २०२प्र.

प्रेय और श्रेय ४३प्र.

म

मनुष्य, मनुष्य-जीवन १३४प्र.,

१३६प्र., १३८, १३९

मानसिक एकाग्रता १७७प्र.

मोहकर्म ३५प्र.

य

यज्ञ ३९-४१

र

राष्ट्र-धर्म १२प्र.

राष्ट्रीयता १२प्र.

ह्म और धर्म १२प्र.

ल

लज्जा १६९

लोकोत्तर धर्म २५प्र., ४३प्र.

लौकिक धर्म २५प्र., ४३प्र.

व

विद्या १४९

विद्यार्थी १६प्र., १४९

विसर्जन ४१प्र., १२२, १२३प्र., १२८

ह्म और दान ४१

वैदिक संस्कृति ३८प्र., ४३प्र.

श

शांति-अशांति १८, १३९, २०५

शिक्षा ६प्र.

ह्मका उद्देश्य ६

श्रमण-संस्कृति ३८प्र., ४३प्र.

स

संधारा देखेंह्मअनशन

संगठन ९९प्र.

संयम ४०प्र., १९९प्र.

ह्म और धन १९९प्र.

सत्संग १६१, १६२प्र.

समाज का नव-निर्माण १९२प्र.

सम्यक्त्व २२प्र., ८१प्र., ८७प्र., ९१प्र.

ह्मके पांच लक्षण ८१प्र.

ह्मके पांच अतिचार ८७प्र.

सहाय-प्रत्याख्यान ७१

साधुत्व और प्रमाद ७३प्र.

सामायिक ७६प्र., १७६प्र.

स्वतंत्रता १७१प्र.

स्वावलंबन ७१

नामानुक्रम

● व्यक्ति

अ	ग
अजित, तीर्थकर ३९	गांधी, महात्मा ८, ६२, १०९, ११३,
अन्ना, सहस्रबुद्धे (सर्वोदयी कार्यकर्ता) ९७	१२८, १२९प्र., १४०, १४३, १४४, १८४, २०४
आ	गोलवलकर, माधवराव सदाशिवराव, गुरुजी ९९
आइंस्टीन, अलबर्ट ६२	गौड़ा, शंकर (शिक्षामंत्री, कर्नाटक सरकार) ३६
इ	गौतम, इंद्रभूति, गणधर ६५, ७१
इंद्र, देवराज २०प्र., २३, २६, २७प्र., ३१प्र., ३४प्र., ३८प्र., ४३प्र., ५०प्र., ५४प्र., ५९प्र.	च
इलंगत (अध्यक्ष, खादी बोर्ड, केरल) ११५	चंद्रभाण, मुनि (संघमुक्त) ८४प्र. चंपालाल, मुनि, सेवाभावी १२१ चतुर्भुज ३९
उ	छ
उमास्वाति, आचार्य ८९	छाजेड़, बस्तीमल, श्रावक १४७
ऋ	ज
ऋषभ, तीर्थकर ३९	जयाचार्य ७३
क	जरासंध ३६
कंस ३६	ज्वालनैया १२२
कबीर १९६	ज्ञातपुत्र देखेंहमहावीर
कालेलकर, काका १३०	त
कृष्ण ३६	तिलोकचंद, मुनि (संघमुक्त) ८४प्र.
ख	तुलसी, गोस्वामी १६२
खां, अब्दुल गप्फार, सीमांत गांधी	

द	१७३, १८१, १८३, १८४, २०४
दूगड़, सेठ सुमेरमल, श्रावक ११८प्र.	महेश ३९
द्रौपदी ५, १४५	माओ ९२
न	मेघकुमार, मुनि १६९प्र.
नंद, मणियार (मणिकार) २२प्र.	राजचंद्र (श्रीमद्) ३३
नमि, राजर्षि १९प्र., २७प्र., ३१प्र.,	र
३४प्र., ३८प्र., ४३प्र., ५०प्र., ५४प्र.,	राम, मर्यादापुरुषोत्तम ८, ३२, ३५, ३६
५९प्र.	रावण ३२, ३५, ३६
नागेंद्र, एस. १५८	ल
प	लक्ष्मण ३२
पटवा, विजयचंद, श्रावक ८४प्र.	लाडां, साध्वीप्रमुखा ६६
पटेल, सरदार बल्लभभाई १५७प्र.	व
परशुराम, ऋषि ११४	वदना, साध्वी ६६
पार्वती ३९	वसेश्वर, संत १८
पिंगल, निर्ग्रंथ ६४प्र.	विनोबा, आचार्य ६९, १०३
प्रह्लाद, भक्त ३	विष्णु ३९
ब	श
बर्नार्ड शा (जार्ज) २०१	शांतानंद, अणुव्रत कार्यकर्ता १२२
बाहुबली, मुनि ६६	शालिभद्र, सेठ १४
बुद्ध, गौतम ८, ४८, ४९, १०१,	श्रेणिक, सम्राट १४, २१
११३, १४०, २०४	स
ब्रह्मा ३९	सनत्कुमार, चक्रवर्ती २३, २४
ब	सिद्धार्थ, राजकुमार देखेंहबुद्ध, गौतम
भद्रा, सेठानी १४प्र.	सीता, महासती २९
भर्तृहरि, राजर्षि १३६	सुब्रह्मण्यम, जी., अणुव्रत कार्यकर्ता
भिक्षु, आचार्य २२, ८४प्र., ९५, १३०	१२२
म	सोमप्रभ, आचार्य १३४
महादेव देखेंहमहेश	स्वामीजी देखेंहभिक्षु, आचार्य
महावीर, भगवान ८, १०, २१, ४२,	स्कंदक, संन्यासी ६४प्र.
५३, ६२प्र., ६४प्र., ७१, ७३, ८८,	ह
११३, १४०, १५६, १६९, १७१,	हिरणांकुश ३

● स्थान	पापनाशनम १०१
अ	पाली ८४, ८५
अमेरिका ५२, १५४, १९४	प्रयाग ३९
आ	ब
आंध्र १८	बीदासर ६६
उ	बेंगलुरु ३८, १०९, १४७, १५४, १५५
उत्तर भारत ३९, ६६, ११०, १४७, १५४	बैंगलोर देखेंहबेंगलुरु
क	भ
कयंगला ६४	भारत, भारतवर्ष ८, १०, १४-१६, १८, ३८, ६२, ९५-९७, १००, १०३, १३०, १३९, १४५, १५२, १५४, १५७, १५८, १७१, १८५, १९५, १९७
कर्नाटक ३, १८, ११०, १२०, १५४, १९८	म
केरल ११०, ११३प्र., ११५प्र., १४७, १६१	मगध १४प्र.
ग	मद्रास देखेंहचेन्नई
गया ३९	मिथिला १९प्र., ३१, ३७
च	मुंबई १५६
चिकमंगलूर २०६	मेवाड़ १३५
चूरू ११८	मैसूर देखेंहकर्नाटक १८
चेन्नई ३, १०४, १०९	र
त	राजगृह १४प्र., २१
तमिलनाडु ११०, ११३, १२२, १४७	राजस्थान ६६
तेलंगाना १८	रूस ९५
त्रिवेंद्रम ११३	श
द	शिमोगा १२०
दक्षिण भारत ६६, ९८, ११५, १४०, १४७, १५४, १५५, १७६	श्रवणबेलगोला ६६
दिल्ली १५४	श्रावस्ती ६४
न	स
नेपाल ६२	सरदारशहर ११८
प	ह
पाकिस्तान १००	हांगकांग ११८

● ग्रंथ

	आ	कृष्णराज सागर (बांध) १३९
आगम	४०, ७३, ८०, ८१, १५६,	कैलास (पर्वत) ५१
१७९		ग
	उ	गंगा (नदी) १०१
उत्तराध्ययन	४३	गुजरात विद्यापीठ १३०
	ग	च
गीता	१९३	चंद्रलोक १८
ज्ञाता देखेंहज्ञाताधर्मकथा		ज
ज्ञाताधर्मकथा	२१	जैन विश्वभारती १५६
	द	ट
दसवेआलियं	१६९	टाईम (पत्रिका) १५४
	म	त
महाभारत	१४५	तुंगभद्रा (बांध) १३९
	स	भ
सिन्दूरप्रकर	१३४	भद्रा (बांध) १३९
स्थानांग	९९	र
		राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ९९प्र.

● विविध

	आ	ल
आदर्श साहित्य संघ	१२२	लाईफ (पत्रिका) १५४
	क	स
कालिय (नाग)	३६	सरदार (पत्रिका) १५७, १५८
		साबरमती आश्रम १०९
		ह
		हिमालय (पर्वत) ६२

पद्यानुक्रम

पद्य	पृ.सं.
(संस्कृत)	
आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च	१३६
जिनेन्द्रपूजा गुरुपर्युपास्ति:	१३४
पात्रापात्रविभेदोस्ति	१३५
(प्राकृत)	
अच्छ्रेगमब्भुदए	५४
अप्पाणमेव जुज्झाहि	३४
असइं तु मणुस्सेहिं	२७
अहे वयइ कोहेणं	५५
अहो! ते अज्जवं साहु	५९
अहो! ते निज्जओ कोहो	५९
आमोसे लोमहारे य	२७
इहं सि उत्तमो भंते!	५९
घोरासमं चइत्ताणं	४५
जइत्ता विउले जन्ने	४०
जे केइ पत्थिवा तुब्भं	३१
जो सहस्सं सहस्साणं	४०
जो सहस्सं सहस्साणं	३१
अदितस्स वि किंचण ॥	
एस से परमो जओ ॥	

पंचिंदियाणि कोहं.....	३४
पासाए कारइत्ताणं.....	२०
पुढवी साली जवा चेव.....	५१
मासे मासे तु जो बालो.....	४६
संसयं खलु सो कुणई.....	२०
सल्लं कामा विसं कामा.....	५५
सुवण्णरूप्पस्स उ पव्वया भवे.....	५१
हिरण्णं सुवण्णं मणिमुत्तं.....	५०
(हिंदी)	
तात ! स्वर्ग अपवर्ग सुख.....	१६२
बुरा जो देखन मैं चला.....	१९६
मन जाए तो जान दो.....	१७७
(गुजराती)	
निरखनै नवयौवना.....	३३

कथाओं/घटनाओं/दृष्टान्तों की सांकेतिका

...वरना हम आपका विरोध करेंगे	३,४
भद्रा सेठानी की राष्ट्रीय भावना	१४,१५
इंद्र द्वारा नमि राजर्षि के वैराग्य की परीक्षा	१९
नंद मणियार (मणिकार)	२१-२५
सनत्कुमार चक्रवर्ती	२३,२४
मोती निपजाने की कला	२८,२९,१५२,१५३
अहो सुखम्, अहो सुखम्	४८,४९
स्वर्ग कैसा है	५७
स्कंदक संन्यासी	६४,६५
संत तालाब में पानी पी रहे हैं!	८३,८४
क्षायक सम्यक्त्व के धनी	८४-८६
बगिया उजड़ गई	९२
नो सौ निन्नानबे रुपए किस बात के	९३,९४
प्रभु-दर्शन	१११,११२
सेठजी की अनुकरणीय प्रामाणिकता	११८,११९
अशुद्ध साधन से कुछ भी प्राप्त करना स्वीकार नहीं	१३०
जैसी संगत, वैसी रंगत	१६२
तीन चोर	१६४,१६५
मेघकुमार	१६९,१७०
मैं खाली नहीं बैठ सकता	१७७,१७८
चमत्कारी डंडा	१८०,१८१
मेरा पेट कब्रिस्तान नहीं (बर्नार्ड शा)	२०१
राजा के तीन चित्र	२०२,२०३

पारिभाषिक कोश

अध्यवसायहचेतना का एक अतिसूक्ष्म स्तर।

आशातनाहएेसी प्रवृत्ति, जिससे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, विनय आदि में न्यूनता आए, आशातना कहलाती है। अरहंतों की आशातना, सिद्धों की आशातना आदि उसके तेतीस प्रकार हैं।

इस आकलन से भिन्न भी उनका एक आकलन प्राप्त होता है। उसमें गुरु से सटकर चलना, गुरु से आगे चलना आदि तेतीस प्रकार बताए गए हैं। यह आकलन व्यवहार में ज्यादा प्रचलित है।

आश्रवहकर्म-आकर्षण के हेतुभूत आत्म-परिणामों को आश्रव कहते हैं। उसके पांच प्रकार हैंह१. मिथ्यात्व २. अविरति ३. प्रमाद ४. कषाय ५. योग।

विस्तार में उसके बीस प्रकार भी बताए गए हैं।

औदारिक शरीरहस्थूल पुद्गलों से निष्पन्न होनेवाला शरीर औदारिक शरीर होता है। यह हाड, मांस, रक्त आदि से युक्त होता है। गलना, सड़ना और विनष्ट होना इसका स्वभाव है। इसका छेदन-भेदन किया जा सकता है। आत्मा के निकल जाने के बाद भी यह टिका रहता है। पांच शरीरों में से मात्र इस शरीर से प्राणी को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। देवताओं और नारकों के अतिरिक्त ऐकेंद्रिय से पंचेंद्रिय तक के सभी प्राणियों के यह शरीर होता है।

केवलज्ञानी, केवलीहआत्मा द्वारा जगत के समस्त मूर्त एवं अमूर्त द्रव्यों एवं उनके त्रैकालिक सभी पर्यायों का प्रत्यक्ष बोध केवलज्ञान है। इसमें इंद्रियों और मन की कोई अपेक्षा नहीं रहती। आत्मा पर आए ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से इसकी प्राप्ति होती है। यह तेरहवें व चौदहवें गुणस्थान में तथा सिद्धों में होता है। देखेंहगुणस्थान।

केवलज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति केवलज्ञानी या केवली कहलाता है।

क्षपक श्रेणीहगुणस्थानों के विकास-क्रम में आठवें गुणस्थानहनिवृत्तिबादर गुणस्थान से दो श्रेणियां प्रारंभ हो जाती हैंह१. उपशमक २. क्षपक।

जिस साधना-क्रम में मोहकर्म की प्रकृतियों का उपशमन करते हुए आगे बढ़ा जाता है, उसे उपशमक श्रेणी तथा जिस साधना-क्रम में मोहकर्म की प्रकृतियों का क्षय करते हुए आगे बढ़ा जाता है, उसे क्षपक श्रेणी कहते हैं।

उपशमक श्रेणी का आरोहण करनेवाला साधक मोहकर्म का उपशम करता हुआ ग्यारहवें गुणस्थान में पहुंचता है। चूंकि उपशम की स्थिति अंतर्मुहूर्त से ज्यादा नहीं होती, अतः उपशमक श्रेणी के साधक का अंतर्मुहूर्त बाद पुनः नीचे के गुणस्थानों में लौटना अवश्यंभावी है।

क्षपक श्रेणी का आरोहण करनेवाला साधक सीधा बारहवें गुणस्थान में चला जाता है। वह ग्यारहवें गुणस्थान का स्पर्श नहीं करता। बारहवें गुणस्थान में मोहकर्म का संपूर्ण क्षय कर वह तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान को प्राप्त करता है। फिर चौदहवें गुणस्थान में पहुंचकर वह शैलेषी अवस्था को प्राप्त होता है और वहां से सीधा मोक्ष में पहुंच जाता है।

गुणस्थानहकर्म-विशुद्धि की तरतमता के अनुरूप प्राणी के उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास की विभिन्न भूमिकाएं/स्तर गुणस्थान हैं। इन्हें जीवस्थान भी कहा जाता है। गुणस्थान चौदह हैंह१. मिथ्यादृष्टि २.हसास्वादनसम्यग्दृष्टि ३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि ४. अविरतसम्यग्दृष्टि ५.हदेशविरत ६. प्रमत्तसंयत ७. अप्रमत्त-संयत ८. निवृत्तिबादर ९.हअनिवृत्तिबादर १०. सूक्ष्मसंपराय ११. उपशांतमोह १२. क्षीण-मोह १३.हसयोगीकेवली १४. अयोगीकेवली।

छद्मस्थहज्ञानावरणीय कर्म के उदय को छद्म कहते हैं। छद्म का अर्थ हैहअज्ञान या केवलज्ञान का अभाव। इस अवस्था में रहनेवाले प्राणी छद्मस्थ कहलाते हैं। प्रथम गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक के समस्त प्राणी छद्मस्थ हैं। छद्मस्थता केवलज्ञान की बाधक स्थिति है। इस बाधा के दूर होते ही प्राणी को केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। देखेंहकेवलज्ञान, गुणस्थान।

जातिस्मृतिज्ञानहजातिस्मृतिज्ञान मतिज्ञान का एक प्रकार है। इसके द्वारा प्राणी अपने पूर्वजन्म या जन्मों का ज्ञान स्मृति के रूप में करता है। विशेष

क्षयोपशम होने पर अथवा विशेष निमित्त मिलने पर भी जातिस्मृतिज्ञान हो सकता है। यहां जाति का अर्थ हैहपूर्वजन्म।

निर्जराह

- तपस्या के द्वारा कर्ममल का विच्छेद होने पर आत्मा की जो उज्वलता होती है, उसे निर्जरा कहते हैं।
- कारण को कार्य मानकर तपस्या को भी निर्जरा कहा गया है। उसके अनशन, ऊनोदरी आदि बारह भेद हैं।
- सकाम और अकाम के रूप में वह दो प्रकार की भी होती है। जो मात्र आत्म-शुद्धि के लक्ष्य से तथा शुद्ध साधनों के द्वारा की जाती है, वह सकाम निर्जरा है। जिसमें इस लक्ष्य और साधन-शुद्धि की बात नहीं होती, वह अकाम निर्जरा है। यह दोनों प्रकार की निर्जरा सम्यक्त्वी एवं मिथ्यात्वी दोनों के होती है।

परीषहसाधु-चर्या पालन करने के दौरान उत्पन्न होनेवाले कष्ट परीषह कहलाते हैं। वे बाईस प्रकार के होते हैंह १. क्षुधा २. पिपासा ३. शीत ४.हउष्ण ५. मच्छर-दंश ६. अचेल ७. अरति-रति ८. स्त्री ९. चर्या १०.हनिषीधिका ११. शय्या १२. आक्रोश १३. वध १४. याचना १५.हअलाभ १६. रोग १७. तृण-स्पर्श १८. मैल १९. सत्कार २०. प्रज्ञा २१. ज्ञान २२. दर्शन।

इनमें से स्त्री और सत्कारहये दो अनुकूल परीषह हैं। शेष बीस प्रतिकूल परीषह हैं।

पुद्गलहजो द्रव्य स्पर्श, रस, गंध और वर्णयुक्त होता है, वह पुद्गल है। लोक के सभी मूर्त/दृश्य पदार्थ पुद्गल ही हैं। सामान्य भाषा में उसे भौतिक तत्त्व या जड़ पदार्थ कहा जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी सभी प्रकार की भौतिक ऊर्जा एवं भौतिक पदार्थों का समावेश पुद्गल में होताहै।

पुद्गल परमाणु और स्कंधहदोनों रूप में होते हैं। पुद्गल शब्द की व्युत्पत्ति **पूरणगलनधर्मत्वात् पुद्गलः** की गई है। यानी जिसका गलन-मिलन का स्वभाव है, वह पुद्गल है।

पुद्गल को छोड़कर शेष द्रव्यों में इस गुण का अभाव होता है।

पुद्गल की अनेक वर्गणाएं हैं, जो जीव द्वारा ग्रहण की जाती हैं। उनमें

से कर्म-वर्गणा के पुद्गल महत्त्वपूर्ण हैं।

पोषधहश्रावक के बारह व्रतों में से ग्यारहवां व्रत, जिसमें व्यक्ति एक दिन-रात के लिए उपवास-सहित सावद्य प्रवृत्ति का त्याग कर विशेष धर्मारधना करता है।

मिथ्यादृष्टि, मिथ्यात्वीहजो तत्त्व जिस रूप में है, उससे विपरीत रूप में समझाना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों (मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय) एवं चारित्रमोहनीय की चार प्रकृतियों (अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ) के उदय से निष्पन्न होता है। दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय मोहनीय कर्म के ही दो भेद हैं।

जो प्राणी मिथ्यात्व से ग्रस्त होता है यानी जिसकी श्रद्धा/समझ असम्यक/विपरीत है, वह मिथ्यात्वी या मिथ्यादृष्टि है।

मुहूर्तहअड़तालीस मिनट का कालमान मुहूर्त कहलाता है।

दो समय से लेकर अड़तालीस मिनट में एक समय कम तक का सारा कालमान अंतर्मुहूर्त कहलाता है।

लेश्याहमनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा के पुद्गलों के सहयोग से बननेवाले प्रशस्त और अप्रशस्त आत्म-परिणामों को लेश्या कहते हैं।

लेश्या के दो प्रकार हैंह१. द्रव्य लेश्या २. भाव लेश्या।

आत्म-परिणामों के बनने में योगभूत पुद्गलों को द्रव्य लेश्या तथा आत्म-परिणामोंहभावधारा को भाव लेश्या कहते हैं।

लेश्या के छह भेद हैंह१. कृष्ण लेश्या २. नील लेश्या ३. कापोत लेश्या ४. तेजः लेश्या ५. पद्म लेश्या ६. शुक्ल लेश्या।

इनमें प्रथम तीन लेश्याएं अप्रशस्त और शेष तीन लेश्याएं प्रशस्त हैं।

वीतरागहराग-द्वेष से मुक्त आत्मा को वीतराग कहते हैं। वीतराग ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक होता है। देखेंहगुणस्थान। दूसरे शब्दों में क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार कषायों से मुक्तह'अकषाय' को वीतराग कहते हैं।

राग-द्वेष के विलय से होनेवाली आत्मा की अवस्था या भाव को वीतरागता कहते हैं।

श्रावकहिंसा, असत्य आदि सावद्यहपापकारी प्रवृत्तियों का आंशिक त्याग करनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव। श्रावक पांचवें गुणस्थान में अवस्थित होता है। श्रावक को देशव्रती या व्रताव्रती भी कहते हैं। देखेंहगुणस्थान।

संवरहकर्म-आकर्षण में हेतुभूत आत्मपरिणाम को आश्रव कहते हैं। आश्रव के निरोध को संवर कहा जाता है। उसके पांच भेद हैंह१. सम्यक्त्व २. व्रत (विरति) ३. अप्रमाद ४. अकषाय ५. अयोग।

विस्तार में उसके बीस भेद भी किए गए हैं।

समयहनिमेष के असंख्यातवें भाग को समय कहा जाता है। यह काल की सूक्ष्मतम इकाई है।

सम्यक्त्वहतत्त्व के बारे में सम्यक/यथार्थ श्रद्धाहजो तत्त्व जैसा है, उसे उसीहहरूप में समझना सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व की प्राप्ति दर्शन-मोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियों (मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय एवं सम्यक्त्वमोहनीय) तथा चारित्रमोहनीय की चार प्रकृतियों (अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ) के क्षय, क्षयोपशम या उपशम से होती है।

दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय मोहकर्म के ही दो भेद हैं।

सामायिकहश्रावक (हिंसा, असत्य आदि पापकारी प्रवृत्तियों का आंशिक त्याग करनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव) के बारह व्रतों में नवां व्रत, जिसमें एक मुहूर्त (४८ मिनट) के लिए सावद्यहपापकारी प्रवृत्ति का त्याग कर विशेष धार्मिक अनुष्ठान के द्वारा समता की साधना की जाती है।

सिद्धशिलाहल्लोकांत का वह भाग, जहां सिद्ध स्थित हैं।

प्रेरक वचन

- शिक्षा का उद्देश्य जीने का स्तर ऊंचा उठने की अपेक्षा जीवन का स्तर ऊंचा उठना होना चाहिए। (७)
- राष्ट्र में रहनेवाला व्यक्ति जब राष्ट्र की सेवा लेता है, तब क्या उसका राष्ट्र के प्रति कोई कर्तव्य नहीं होता? राष्ट्र पर संकट के समय वह निष्क्रिय कैसे रहेगा? (१३, १४)
- राष्ट्र-धर्म और अध्यात्म-धर्म दोनों ही तत्त्व समाज में रहनेवाले व्यक्ति के लिए उपयोगी और आवश्यक हैं, किंतु दोनों को मिलाकर यदि एक कर दिया जाएगा तो लाभ के स्थान पर नुकसान हो जाएगा। (१४)
- आज राष्ट्र के समक्ष सबसे बड़ी समस्या हैद्वाराष्ट्रीय चरित्र की। जिस राष्ट्र की जनता का नैतिक पतन हो जाता है, वह राष्ट्र मुर्दा राष्ट्र कहलाता है। राष्ट्र में किसी भी तरह का विकास नैतिक और चारित्रिक विकास पर ही अवलंबित है। (१५)
- मेरे अंतर का विश्वास बोलता है कि यदि विभिन्न क्षेत्रों के उच्चस्तरीय व्यक्ति अध्यात्मनिष्ठ, धार्मिक और नैतिक बन जाएं तो जनता में इस क्षेत्र में एक गुणात्मक बदलाव हमें स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगेगा। (१६)
- जो धर्म केवल क्रियाकांडों और अवैज्ञानिक उपासना में उलझ कर रह जाता है, जन-जीवन के आचार और व्यवहार में नहीं उतरता, उसकी मैं कोई विशेष उपयोगिता नहीं समझता। मेरी अंतरात्मा उसी धर्म को मान्यता देती है, जो जन-जन के जीवन को पवित्र बनाए, उसे आनंद और शांति की अनुभूति कराए। (१६)
- जिस समाज में अर्जन के साथ विसर्जन का सूत्र नहीं अपनाया जाता है, वह समाज कभी स्वस्थ नहीं रह सकता। वह अनेक प्रकार की

समस्याओं से आक्रांत बन जाता है। (४२)

- आत्म-कल्याण का मार्ग लौकिक कर्तव्य से बहुत ऊंचा है। जहां तक लौकिक कर्तव्य का प्रश्न है, उसके पालन के साथ हिंसा, झूठ, चोरी, अर्थ-संग्रह, असंयम आदि बातें भी किसी सीमा तक जुड़ी हुई हैं और लौकिक धर्म या प्रेय की सीमा में उन्हें अनुचित भी नहीं माना जाता, किंतु जहां लोकोत्तर धर्म या आध्यात्मिक धर्म का प्रश्न है; श्रेय की साधना का प्रश्न है, वहां हिंसा, झूठ, चोरी, अर्थ-संग्रह, असंयम आदि से जुड़ी कोई भी प्रवृत्ति स्वीकार्य नहीं है। (४४)
- पेट तो भर सकता है, पर पेटि कदापि नहीं। अखंड बर्तन तो पानी आदि से भरा जा सकता है, किंतु यदि कोई व्यक्ति ऐसे किसी घड़े या अन्य बर्तन को भरने का प्रयास करे, जिसका पेंदा फूटा हुआ है, तो वह अपने इस प्रयास में कभी सफल नहीं हो सकता। इच्छा-लालसा पेंदे से फूटे हुए बर्तन के समान है। पर जो लोभी मनुष्य होता है, वह धन-वैभव के प्रति इतना आसक्त बन जाता है कि वह इस सचाई को जानते हुए भी नहीं जान पाता। (५०)
- जिस व्यक्ति के क्रोधादि आवेग-संवेग अनियंत्रित होते हैं, वह लोकप्रिय नहीं बन सकता, लोग उसे चाहते नहीं। सबसे बड़ी बात यह है कि वह व्यक्ति सदा अशांत रहता है। वह न स्वयं शांति के साथ जीता है और न अपने परिवार और पड़ोसियों को शांति के साथ जीने देता है। इसलिए शांति और सुख से जीने के इच्छुक हर व्यक्ति को शम का अभ्यास करना चाहिए। (८१)
- मैं जिस समन्वय की बात करता हूं, प्रेरणा देता हूं, उसका आशय अथवा सीमा यह है कि अपने संप्रदाय की मान्यताओं और लक्ष्य में स्थिर रहते हुए दूसरे-दूसरे संप्रदायों के प्रति समता के भाव रखना, सद्भाव रखना। अपने संप्रदाय और उसकी मान्यताओं की सुरक्षा का उपाय और प्रयत्न तो एक सम्यक्त्वी को करना ही होगा। यह तो कांटों से बचने के लिए पैरों में जूते पहननेवाली-सी बात है। (९०)
- मैं नहीं समझता कि जो धर्म मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनाना नहीं सिखाता, वह उसे देवता कैसे बनाएगा; पड़ोसी के साथ प्रेम से मिलना-रहना नहीं सिखाता, वह भगवान से प्रेम करना कैसे सिखाएगा, प्रभु से मिलाने में सक्षम कैसे होगा। (९६)

- स्वयं नैतिक बन जाना अच्छी बात है, पर आज के समुदायनिष्ठ सामाजिक जीवन में पर्याप्त नहीं है। यदि नैतिक व्यक्ति में अनैतिकता से लड़ने की शक्ति नहीं आई तो अनैतिकता नैतिकता को कभी आगे नहीं आने देगी। शक्ति नैतिक लोगों के हाथ में हो, नैतिक विकास के लिए यह अत्यंत जरूरी है। अर्थ और सत्ता की शक्ति अनैतिकता के हाथ में जाए और नैतिकता में निष्ठा रखनेवाले चाहें कि नैतिकता का विकास हो, यह कैसे संभव होगा? आकर्षण का केंद्र वही होगा, जिसके पास शक्ति है और विकास भी उसी का होगा, जिसके प्रति जनता का आकर्षण है। नैतिकता के प्रति इसलिए जनता का आकर्षण नहीं है कि शक्ति का बहाव उसकी ओर नहीं है। (१०७)
- विसर्जन के बिना अर्जन दुःखदाई और नुकसान पहुंचानेवाला हो सकता है। (१२२)
- जब तक वोटों की खरीद-बिक्री बंद नहीं होती, तब तक सच्चा समाजवाद नहीं आ सकता। (१४३)
- यदि वर्तमान अच्छा होगा तो भविष्य भी शुद्ध होगा। इसके ठीक विपरीत यदि वर्तमान अच्छा नहीं होगा तो भविष्य के भी अच्छा होने की कोई कल्पना और आशा करना बेकार है। (१४६)
- अणुव्रत के द्वारा हम जन-जन को नैतिक बनाने का कार्य कर रहे हैं। किंतु हमारे इस प्रयास से सारा संसार सुधर जाएगा, ऐसा न तो हमारा दावा है और न एसी कोई कल्पना ही है। इससे भी आगे, मैं ऐसा संभव भी नहीं मानता। यदि हमारे इस प्रयास से अधर्म और अनीति की अपेक्षा धर्म और नीति का पलड़ा भारी हो जाए तो मैं समझूंगा कि हम अपने प्रयास में सफल हैं, इस दिशा में अच्छा कार्य हुआ है। (१४६)
- यदि वर्षों तक अध्ययन करने के बाद भी व्यक्ति चरित्रवान नहीं बनता तो मानना चाहिए कि उसकी विद्या बेकार है। (१४९)
- आचार की पवित्रता ही सच्ची शिक्षा है। (१४९)
- बाह्य बंधन या परतंत्रता से भी आंतरिक बंधन या परतंत्रता ज्यादा भयंकर है, ज्यादा अहितकर है। जब तक राग और द्वेष या वैमनस्य के आंतरिक बंधन शिथिल नहीं होते, टूटते नहीं, तब तक राजनीतिक स्वतंत्रता का आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत महत्त्व नहीं है। मैं आंतरिक बंधनों से मुक्त

होने को ही वास्तविक या असली आजादी मानता हूँ। जिस दिन भारतवासी राग, द्वेष, क्रोध, अहंकार, माया, लोभ आदि आंतरिक ग्रंथियों से मुक्त होंगे, उस दिन ही उन्हें वास्तविक आजादी मिल सकेगी। (१७२)

- परदा हटाने का यह अर्थ कदापि नहीं कि फैशनपरस्ती बढ़े। यह तो कुएं से निकलकर खाड़ में गिरनेवाली बात होगी। ऐसी गलती बिलकुल नहीं होनी चाहिए। अपेक्षित यही है कि महिला-समाज सविवेक परदे की रूढ़ परंपरा से मुक्त होकर सादगी और सात्त्विकता का जीवन जिए। अणुव्रती बननेवाली बहनों को तो इसका विशेष लक्ष्य रखना चाहिए। (१७५)
- अणुव्रती बनने का अर्थ तेरापंथी बनना नहीं है। अणुव्रती बनने का अर्थ हैह्नैतिक और प्रामाणिक जीवन जीने का संकल्प करना। (१७५)
- आज ऐसा लग रहा है कि अहिंसक लोगों ने जैसे औरों को नहीं मारने का संकल्प ले रखा है, वैसे ही स्वयं के न मर-मिटने का भी संकल्प ले रखा है। वे इतना अवश्य जानते हैं कि दूसरों की हिंसा न की जाए, किंतु हिंसा को रोकने के लिए स्वयं के बलिदान होने का उनमें साहस नहीं है। जब तक अहिंसक लोगों में यह साहस और ताकत नहीं आ आएगी, अहिंसा तेजस्वी बने, यह असंभव है। आज अहिंसानिष्ठ व्यक्तियों को यह समझने की आवश्यकता है कि जैसे दूसरों को मारना हिंसा है, वैसे ही हिंसा को रोकने के लिए यदि आत्म-बलिदान का अवसर प्राप्त हो तो उससे कतराना भी हिंसा है। जहां अपने प्राणों का मोह है, अपने संकल्प के प्रति मर-मिटने की तड़प नहीं है, यह मोह और कायरता हिंसा है। (१८४)
- हिंसा भी शक्तिशाली तभी होती है, जब उसके लिए बलिदान करनेवाले होते हैं। बिना बलिदान के हिंसा कुछ भी नहीं रह सकती। फिर अहिंसा बिना बलिदान के शक्तिशाली व प्रभावशाली कैसे हो सकती है! (१८५)
- जिस प्रकार बुराई बुरा वातावरण उभारने का प्रयत्न करती है, उसी प्रकार भलाई को चाहिए कि वह उससे अधिक शक्तिशाली ढंग से अच्छा वातावरण तैयार करने के लिए प्रयत्नशील हो। (१८६)

- कोई भी सशक्त व्यक्ति या सशक्त संस्था सदा अपने लोगों से ही दूटी है। बाहरी कोई भी शक्ति उसे तोड़ने में न तो कभी सफल हुई है और न कभी सफल हो ही सकती है। (१८७)
- व्यक्ति-व्यक्ति में विचार-भेद होना स्वाभाविक है। यह विचार-भेद उसकी स्वतंत्र चेतना का द्योतक है, किंतु उस विचार-भेद में यदि दूसरे के विचारों के प्रति असहिष्णुता उत्पन्न हो जाती है, तब कठिनाई होती है। वहां अपने विचारों को ही सत्य मानने का आग्रह हो जाता है और उसके लिए गलत मानदंडों का स्थापन किया जाता है। (१८८)
- बेशक, पुराने अवांछनीय मूल्य तोड़कर आगे आना एक साहसिक कार्य होता है, किंतु क्रांतिकारी मूल्यों की स्थापना करनेवालों के लिए इस विषय में सतर्क रहना आवश्यक होता है कि कहीं ऐसे मूल्यों की स्थापना न हो, जो स्वयं संस्था और देश के लिए भारी पड़ जाएं, अन्यथा उन मानदंडों को प्रगतिशील विचारों के नाम पर एक बार भले जनता का समर्थन मिल भी जाए, किंतु लंबी दौड़ में वे कभी सफल नहीं होते। उनका सुदूरगामी परिणाम स्वयं उनके जनकों के लिए अनिष्टकर ही होता है। (१८८)
- अध्यापक बनने के इच्छुक व्यक्ति को अध्यापन का प्रशिक्षण लेना होता है, वकील बननेवाले को वकालत का प्रशिक्षण लेना पड़ता है। इसी प्रकार डॉक्टर, सी.ए., इंजीनियर आदि सभी को अपने-अपने कार्य का प्रशिक्षण लेना होता है। ऐसी स्थिति में फिर सांसदों और विधायकों के लिए कोई प्रशिक्षण-व्यवस्था क्यों नहीं होनी चाहिए? क्या ये स्थान इतने साधारण हैं कि जिनके लिए कोई अर्हता की अपेक्षा नहीं होती और कोई भी व्यक्ति जिनके लिए योग्य हो सकता है? राजनीति में आज जो गांभीर्य और उत्तरदायित्व का अभाव नजर आ रहा है, उसके पीछे एक ही कारण लगता है कि इसमें चुनकर आनेवाले व्यक्ति अर्हता के आधार पर नहीं, अपितु दल के आधार पर आते हैं। (१९०)
- प्रगति और निर्माण के मूल्यों का सदा स्वागत होना चाहिए। उनसे आंखें मूंदना वास्तविक जीवन से आंखें मूंदना होता है। (१९२)
- किसी भी नए निर्माण से पहले यह आवश्यक होता है कि उसमें काम आनेवाला एक-एक पत्थर परखा जाए। उसका निर्माण करनेवाले एक-

एक हाथ की ईमानदारी पर विशेष ध्यान दिया जाए। पत्थर अथवा हाथ दोनों में से एक कमजोरी भी निर्माण को विफल कर देनेवाली होती है। (१९२)

- कोई भी व्यवस्था सफल तभी हो सकती है, जब वह हृदयगत होती है, आत्मगत होती है। डंडे के बल पर शरीर को पकड़ा जा सकता है, आत्मा को नहीं। (१९५)
- हमारा जीवन ही प्रमुख धर्मस्थान है। यदि जीवन में धर्म नहीं तो वह निरर्थक है। (१९६)